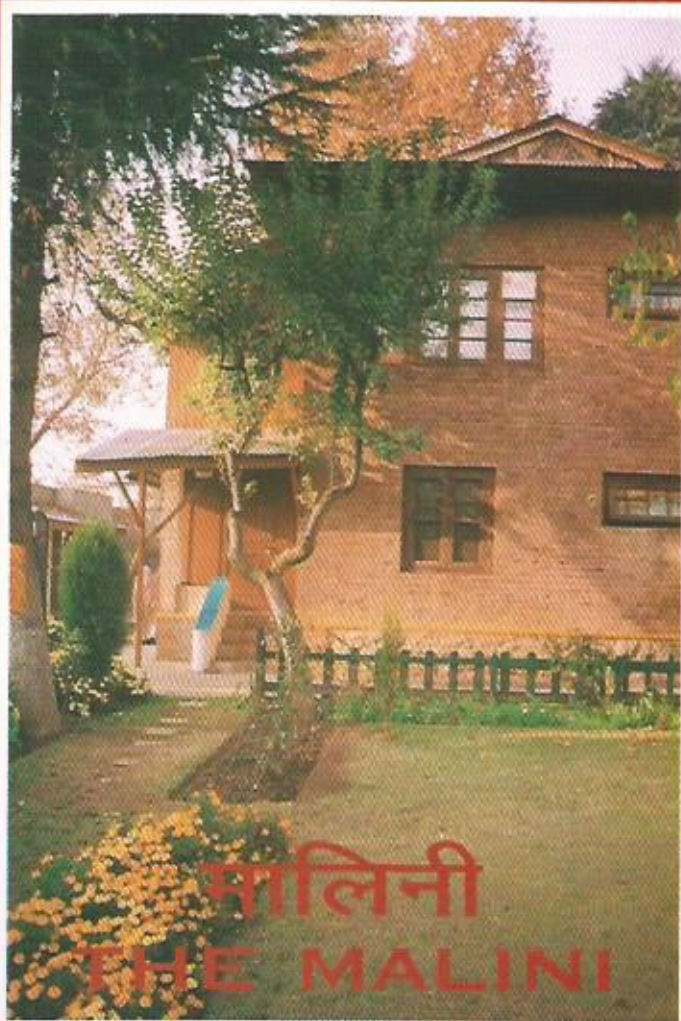


APRIL, 1999



मालिनी
THE MALINI

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Birthday Jayanti Special Issue



मालिनी

THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

*Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union
with her all the treatises of non-dualistic
order achieve the nature of divine potency.*

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :

Sri Inderkrishan Raina

(Secretary/Trustee)

Sri Samvit Prakash Dhar

Sri Brijnath Kaul

Sri Mohankrishan Wattal

Editorial Board :

Sushri Prabhadevi

Prof. Nilakanth Gurtoo

Prof. Makhanlal Kukiloo

Sri Somnath Saproo

Sri Brijmohan

(I.A.S. Retd.) Co-ordination

Publishers :

Ishwar Ashram Trust

Ishber (Nishat), Srinagar

Kashmir.

Administrative Office :

2-Mohinder Nagar

Canal Road

Jammu Tawi - 180 002.

Tel. : 555755

Branch Office :

Ishwar Ashram Trust

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044

Tel. : 6943307

13th April, 1999

Price : Rs. 20.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust

by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से		4
1. Śiva Sūtras	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	7
2. Upāyas	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	15
3. The Secret Exposition of Amṛteśvara Bhairava Mantra	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	22
4. Matharā Devī - A Profile	<i>Late Pandit Jankinath Kaul</i> <i>'Kamal'</i>	28
5. त्रिक-मार्ग के शैवी साधकों के हितार्थ महाराज का आदेश	सुश्री प्रभादेवी के सौजन्य से	40
6. शैवदर्शन के वातायन से	प्रो० नीलकण्ठ गुरुदू	42
7. भगवद्गीतार्थ संग्रह पर एक विहंगम दृष्टि	सुश्री प्रभादेवी	45
8. काश्मीर शैवदर्शन पर कविराज जी के विचार	डा० नवजीवन रस्तोगी	53
9. From Ashram Desk	<i>Administrative Office</i>	64

संपादक की लेखनी से

प्रातः स्मरणीय परम आदरणीय सद्गुरु महाराज की बयानवी पुण्य जन्म तिथि के विशेष पर्व पर 'मालिनी' का यह जन्म जयन्ती विशेष अंक सद्गुरुभक्तों, शिष्यों और पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए महान् प्रसन्नता हो रही है।

आज की यह पुण्य तिथि समस्त गुरु परिवार के लिए विशेष महत्त्व की है कि आज हम हृदय को जाग्रत कर श्रद्धा विश्वास और प्रेम में निमग्न होके सद्गुरु पाद-कमलों में पूर्ण रूप से अपने को समर्पित कर वह प्रण दुहरायेँ जिससे हमारा जीवनमार्ग समुज्ज्वल हो जाये। सद्गुरु महाराज तो मार्ग दर्शक है, कलाई पकड़कर अपने साथ ले चलते हैं, हमारे लिए कंटीले मार्ग को सुगम बनाते हैं; जीवन की श्रेष्ठता को प्राप्त कराने में सहायक हैं, डगमगाते विश्वास तथा धुंधली नजर को स्पष्टतम बनाते हैं, संशय के असंख्य बादलों को प्रखर ज्ञान की आंधी से तितर-बितर करते हैं, कदम कदम पर अपनी दिव्यता का आभास कराने में कटिबद्ध हैं, दिव्यमंत्र की दीक्षा से प्रवेशद्वार की समस्त बाधाओं को एक ओर करके चमत्कारिक ढंग से मार्ग को सहज बनाते हैं, मकड़े की तरह स्वनिर्मित जाल में उलझे हुए अप्रबुद्ध को सुप्रबुद्ध बनाते हैं जिससे उसके पाश नष्टभ्रष्ट होते हैं, आन्तरिक पवित्रता एवं चेतना को सदा जाग्रत रखते हैं, कीचड़ से निकले हुए कमल की तरह मालिन्य से अछूते रखकर समर्पण के योग्य बनाते हैं, दिव्य बोध की उपलब्धि कराकर 'वीरेश' बनाने को आतुर रहते हैं, विस्मयावह योग-भूमिकाओं का अनावरण कर दर्शनीय बनाने के इच्छुक हैं, कभी-कभार आंखों में उभरती संशय की छाया लकीरों का अमृताञ्जन बनकर प्रशमन करते हैं, भक्ति पथ के कायल को अनाहतनाद की वंशी सुनाने को विवश हैं, वरद हस्त से सदा उत्थान की अभिलाषा रखते हैं, और अपनी विराटता में समाहित करने को प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार गुरु दीक्षा, गुरु भक्ति और गुरु व्यक्तित्व में एकाकार होके कोई भी साधना कोई भी सिद्धि कोई भी लक्ष्य हमसे दूर नहीं रह पायेगा। असंभव जैसा कोई शब्द नहीं रह पायेगा। अष्टसिद्धियाँ हमारे साहचर्य में आने के लिए लालायित होंगी। सद्गुरु पादकमलों में विश्वास और अनन्यभाव का दिया पूर्ण रूप से समर्पित कर आज के दिन हम तटस्थ होकर चिन्तन करें कि सद्गुरु की मीठी स्मृति हमें भावविभोर कर सदा आंखों से कितनी बार आंसू बहाने को विवश करती है। विश्वास की सीमा में क्या कहीं दरार तो नहीं आया है? उनके कहे अनुसार कितना हम चलते हैं? अपने अहंकार को गलाने में हम कितने सफल हुए हैं? उनकी साधना में क्या हमारी भावना अटल है? क्योंकि साधना तो भावना के पीछे खड़ी है? उनके शब्दों में छिपे दिव्य अर्थ को समझाने में हम कहां तक सफल हो रहे हैं? स्मरणमात्र से ही सदा उन्हें अपने समक्ष पाकर उनकी दिव्य विभूति को सहेजने में हम कहां तक प्रयत्नशील हैं? सद्गुरु महाराज का

आज का यह पुण्यप्रद जन्मदिवस इन समस्याओं का समाधान दिवस है। हम अपने को टटोलें तो हमारे सामने आज स्वतः सब कुछ स्पष्ट होगा।

‘मालिनी’ के लिए भी आज का दिन विशेष महत्त्व का है क्योंकि पांचवें वर्ष में इसने भी आज अपना श्रेष्ठ कदम रखा। इन विगत वर्षों में इसके सुकुमार शरीर के रचना-सौष्ठव की, कदम-कदम पर बाधाओं के आने पर भी अन्तर्निहित अपनी ओजस्विता के परिणामस्वरूप, विवृद्धि में कोई कमी नहीं आई। हमें आशा है कि सद्गुरु महाराज की विशेष अनुकम्पा से ‘मालिनी’ दिन प्रतिदिन विकसित होती जायेगी और अपने भक्तों को मनोऽनुकूल हृदयहारी पुष्पों की सुरभिसे सुरभिित करेगी।

सद्गुरु महाराज का इस वर्ष का यह जन्म दिवस हम सभी के लिए विशेषतः दिल्ली-वासियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आज हम प्रथम बार दक्षिण दिल्ली स्थित “सरिता विहार” नामक कालोनी के “डी” पाकेट में वर्तमान दिल्ली-विकास प्राधिकरण की ओर से ईश्वर आश्रम के लिए स्वीकृति प्राप्त चार सौ मीटर भूमि खण्ड पर, महोत्साह से यह पुण्यपर्व मना रहे हैं। विधिवत् शुक्रवार ७ मई १९९९ को प्रातः ईश्वर-आश्रम दिल्ली शाखा का शिलान्यास समारोह मनाया जा रहा है जिसमें श्रद्धापूर्वक सम्मिलित होने के लिए सभी सद्गुरु प्रेमियों को, सादर निमन्त्रित किया जा रहा है। वे सभी भक्तजन प्रशंसा के पात्र हैं जो ईश्वर आश्रम के लिए इस भूमिखण्ड के आवंटनार्थ पिछले डेढ़ वर्ष से कटिबद्ध होके प्रयत्नशील रहें; उन दानी महानुभावों के हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस भूमि खण्ड को पाने के लिए अपनी दानवीरता का परिचय, मुक्तहस्त आर्थिक अनुदान देकर, गुप्त रूप से दिया। सद्गुरु महाराज की दया से उनकी सर्वकामना पूर्ति हो। अब आश्रमभवन भी इन्हीं दानी शूरवीरों की उदारता से शीघ्र ही साकार हो उठेगा ऐसी हमें पूरी आशा है।

आप भक्त महानुभाव यह पढ़कर भी प्रसन्न होंगे कि श्रीनगरस्थित हमारे प्रधान आश्रमधाम में विशेष सभागार व आधुनिक रीति के विशाल रसोईघर का उद्घाटन आज के ही पुनीत पर्व पर विशेष समारोह के साथ सम्पन्न होगा। स्थानीय कठिनाईयों के होते हुए भी जिन गुरु प्रेमियों ने सद्गुरु महाराज की इच्छा के अनुसार निर्माण कार्य में भाग लिया हम उनके सामने नतमस्तक हैं। सद्गुरु महाराज उन्हें यथार्थ सुख से महिमान्वित करें।

‘मालिनी’ का समस्त सम्पादक मण्डल, साहित्य मर्मज्ञ, शैव शास्त्र के धुरन्धर मनीषी, प्रकाण्ड पण्डित डा० विनोद रस्तोगी का आभारी है कि उन्होंने हमारे इस नवोदित मालिनी उद्यान को अपने अनाघात सुवासित विचार पुष्पों से पहिली बार आज की इस पुण्य तिथि पर अलंकृत किया है। आशा करते हैं कि वे सद् विमर्श से समय-समय पर हमारे महोत्साह की वृद्धि करेंगे और हमारा सन्मार्ग प्रदर्शन करने में पीछे नहीं रहेंगे।

आर्थिक अनुदान देने वाले दानवीरों से सविनय प्रार्थना है कि ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट के लिए दिया

हुआ उनका आर्थिक अनुदान आयकर सीमा-८०-जी-१९६१ अनुच्छेद के अन्तर्गत आयकर से मुक्त समझा जायेगा।

समस्त ईश्वराश्रम परिवार को सद्गुरु जन्मजयन्ती की कोटि कोटि बधाईयां।

जय गुरुदेव

मंगलवार

१३ अप्रैल १९९९

वैशाख कृष्ण द्वादशी

प्रो० मखनलाल कुकिलू

MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs. 80.00

Price Per Copy : Rs. 20.00

Overseas Subscription : US\$25.00

*All correspondence & subscription
must be sent to the Administrative Office :*

2-Mohinder Nagar

Canal Road

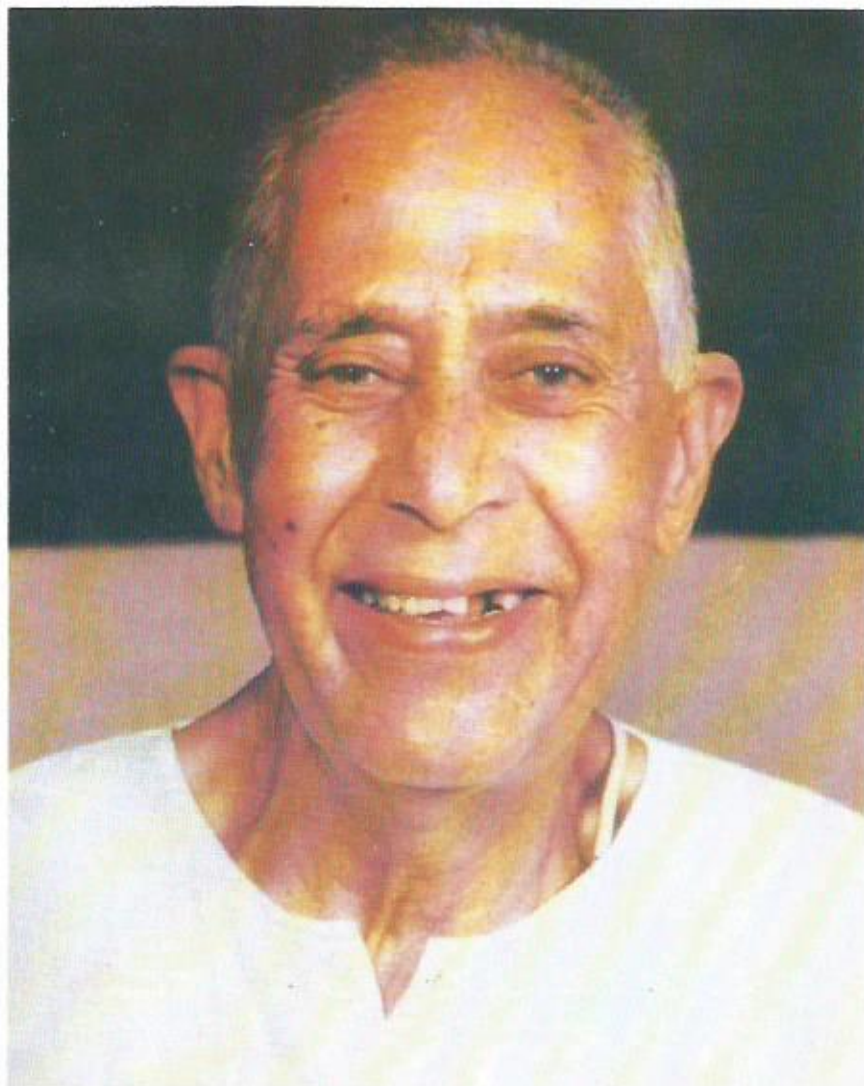
Jammu Tawi - 180 002.

*Information regarding printing & publishing etc.
can be had from*

ISHWAR ASHRAM TRUST

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044.

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

ŚIVA SŪTRAS

with Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrīkṣemarāja

VIII

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

(Continued from last issue)

एतत् जाग्रद् आदि त्रयं सूत्रत्रयेण लक्षयति—

एतत्—this, जाग्रद् आदि—waking state of consciousness etc., त्रयं—three, i.e. जाग्रद् state, स्वप्न state and सुषुप्ति state, सूत्रत्रयेण—by means of next three sūtras लक्षयति—describes the author:-

ज्ञानं जाग्रत्॥ ८॥

Jñānam Jāgrat

External organic knowledge is the waking state of consciousness or Common knowledge (arising out of differentiation) constitutes Jāgrat (wakefulness)

स्वप्नो विकल्पाः॥ ९॥

Svapno Vikalpāḥ

Internal perception and thoughts are dream state of consciousness or Individual differentiated knowledge in the recess of one's own mind is svapna (dream).

अविवेको माया सौषुप्तम्॥ १०॥

Aviveko māyā sauṣuptam

Forgetfulness and negation of awareness is of the form of delusion or loss of discrimination in the field of unawareness is suṣupti (deep sleep).

सर्वसाधारणार्थं विषयं बाह्येन्द्रियजं ज्ञानं लोकस्य जाग्रत्—जागरावस्था। येतु मनोमात्रजन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः स एव स्वप्नः—स्वप्नावस्था; तस्य एवंविध विकल्प प्रधानत्वात्। यस्तु अविवेको—विवेचनाभावः—अख्याति; एतदेव मायारूपं मोहमयं सौषुप्तम्। सौषुप्तं लक्षतया प्रसङ्गात् उच्छेद्यायाः मायाया अपि स्वरूपं उक्तम्।

सर्वसाधारणार्थं विषयं—that which is object of everybody is जाग्रत्—जागरावस्था—the state of waking consciousness, बाह्येन्द्रियजं ज्ञानं लोकस्य—because it is created from external organic world. येतु—and those, मनोमात्रजन्या—which are created in one's mind. असाधारणार्थं विषया विकल्पा—become object of own individual being not everybody स एव स्वप्नः—that is Svapnah स्वप्नावस्था—dream state, तस्य एवंविधविकल्प प्रधानत्वात्—it is called dream because it is characterized by such uncommon ideation. यस्तु अविवेकः-विवेचनाभावः—that which is complete lack of awareness, अख्यातिः—is ignorance. एतदेव मायारूपं मोहमयं सौषुप्तं—this form of Mayā is delusive deep sleep, सौषुप्तं लक्ष्यता—while describing the state of deep sleep, प्रसंगात्—incidentally, उच्छेद्यायाः—to be eliminated मायाया अपि—of Māyā also स्वरूपं—the nature, उक्तं—described.

That which is object of everybody is the state of waking consciousness, because it is created from external organic world, and those which are created in one's mind without the contact with the external world, which is only a vikalpa (thought-construct) and which has a special object, is called dream state because it is identified by a peculiar ideation. That which is a state of lack of awareness is delusive deep sleep. While describing the deep sleep (सुषुप्तिः) incidentally the nature of Māyā which is to be ignored, is defined.

इत्थमपि च ईहशेनाप्यनेन लक्षणेन तिसृष्वपि जागरादिदशासु त्रैरूप्यमस्तीति दर्शितम्। तथा चात्र यत् यत् स्वप्नदशोचितं प्रथमं अविकल्पकं ज्ञानं सा जागरा। येतु तत्र विकल्पाः स स्वप्नः। तत्त्वाविवेचनं सौषुप्तम्। सौषुप्तं यद्यपि विकल्पा न संचेत्यन्ते; तथापि तत्प्रविविक्षायां तथोचितं जाग्रत् ज्ञानं इव तदनन्तरं संस्कार-कल्पविकल्प-रूपस्तदुचितः स्वप्नोऽप्यस्त्येव।

इत्थमेव च—thus, ईहशेनाप्यनेन लक्षणेन—in this way of explanation तिसृष्वपि—in all of the three जागरादिदशासु—states of awaking, dreaming and dreamless sleep, त्रैरूप्यमस्ति—there are three states in each state, इति दर्शितं—has been defined. तथा चात्र यत् यत् स्वप्नदशोचितं—whatever is characteristic of the dream state प्रथमं—the initial, अविकल्पकं ज्ञानं—undifferentiated state of knowledge, सा जागरा—is the waking state. येतु तत्र विकल्प—whatever is there subjective knowledge and you are conscious स स्वप्नः—that is called

dream. तत्त्वाविवेचनं सौषुप्तं—When you do not remember any dream that is सुषुप्ति in स्वप्न this state is inferior. सौषुप्ते—in deep sleep, यद्यपि—though, विकल्पाः—thoughts, न संचेत्यन्ते—do not exist, because there are no thoughts in it तथापि—yet, तत्प्रविविक्षायां—before entering in that state, तथोचित—characteristic of the state of deep sleep, जाग्रत् ज्ञानं इव—like the awareness of waking state, otherwise after coming out of deep sleep how could we say “सुखं अहं अस्वाप्सम्”—I had very sweet sleep today (this is called सुषुप्ति जाग्रत्)। तदनन्तरं—after that संस्कार कल्प— in the form of impressions, विकल्परूपः—there are thoughts, तदुचितः—appropriate to that, स्वप्नोऽप्यस्त्येव—there is dreaming state also.

Thus in this way of explanation, in all of the three states of waking, dreaming and dreamless sleep, it has been indicated that there are three states in each state e.g. (१) जाग्रत-जाग्रत—Jāgrat Jāgrat, जाग्रत-स्वप्न—Jāgrat svapna, and जाग्रत्-सुषुप्तिः—Jāgarat suṣupti. (२) स्वप्न जाग्रत Svapna Jāgrat स्वप्न स्वप्न Svapna svapna स्वप्न सुषुप्तिः Svapna suṣuptiḥ (३) सुषुप्तिः जाग्रत् Suṣuptiḥ Jāgrat सुषुप्ति स्वप्न Suṣupti svapna and सुषुप्तिः सुषुप्तिः (Suṣuptiḥ suṣuptiḥ). The first indifferentiated state of knowledge characteristic of the dream state is the Jāgrat state the विकल्पाः that follow, perform the dreaming state when these dreams are also beyond the way of memory then that is स्वप्नः. In deep sleep though thoughts do not exist yet before entering in that state there is awareness characteristic of the state of deep sleep which may likened to the waking state of awareness. After that there is dreaming state also and appropriate to that there are vikalpa in the form of impressions.

किं च योग्यमिप्रायेण प्रथमं तत् तत् धारणारूपं ज्ञानं जाग्रत्, तत् तत्प्रत्यय प्रवाहरूपा विकल्पाः स्वप्नः, ग्राह्यग्राहकभेद असंचेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तम्, इत्यप्यनया वचोयुक्त्या दर्शितम्। अत एव श्रीपूर्वशास्त्रे जागरादीनां परस्परानुबन्धकृतो योग्यमिप्रायेणापि—

चतुर्विधं तु पिण्डस्थं अबुद्धं बुद्धमेव च।

प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च पदस्थं तत् चतुर्विधम्॥ मालिनी विजय, द्वितीय ४३॥

इत्यादिना भेदो निरूपितः॥

किं च योग्यमिप्रायेण—with reference to yogi, प्रथमं—at first, तत् तत् धारणा

रूपं ज्ञानं—his knowledge in the form of धारणा (dhāraṇā) जाग्रत्—is his waking state. (When yogi sits for meditation, with onepointedness, he is aware of that meditation hood that is जाग्रत् for yogi. तत्तत्प्रत्यय प्रवाहरूपा विकल्पाः स्वप्नः—When that onepointedness is found in continuous state that is higher than जाग्रत् for yogi and that is svapna for him, ग्राह्य ग्राहकभेद असंचेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तम्—thoughtless state (असंचेतनरूपः) of consciousness where ग्राह्य—the object of objectivity and ग्राहक—the object of subjectivity both vanish, that is called समाधिः सौषुप्तं (this is शुद्धविद्या—Śuddhvidyā.

इत्यप्यनया वचयुक्त्या दर्शितम्—this has been shown by an appropriate application of words: अतएव—therefore, श्रीपूर्वशास्त्रे—in Mālīnīvijaya जागरादीनां—waking state etc. परस्परानुवेधकृतो—by way of the transmission of one state into the other, भेदो—the varieties, निरूपितः—have been defined, योग्यभिप्रायेण—with reference to yogi इत्यादिना—in the following verse:-

चतुर्विधं—of four kinds, पिण्डस्थं—states referring to the objective side, अबुद्धं—unawakened, बुद्ध (buddha) awakened, प्रबुद्ध (prabuddha) - well awakened सुप्रबुद्ध (suprabuddha) - completely well-awakened, पदस्थं—abides (yogi) in the pada-state of his own self in all these conditions, तत् चतुर्विधं—that is of four kinds namely Gatāgata (गतागत) Suvikṣipta (सुविक्षिप्त) Saṅgata (संगत) and Susamāhita (सुसमाहित).

Thus the experience of one staying in the objective consciousness is of four kinds, i.e. unawakened, awakened, well awakened and completely well awakened. The Yogi includes all these four states in one complete term called पदस्थं—state of his own self in all these conditions.

With reference to yogi at first his knowledge in the form of dhāraṇā is his waking state, when that one pointedness is found in continuous state that is higher than जाग्रत् for yogi and that is svapna for him, thoughtless state of consciousness where the object of objectivity and the object of subjectivity both vanish that is called Samādhi sauṣupta. This has been shown by an appropriate application of words. Therefore in Mālīnī vijaya Tantra the varieties of waking state etc. have been defined by way of the transmission of one state into the other, with reference to yogi in the verse of Śrī Mālīnī vijaya Tantra (already explained above).

Note:- In these states Svapna Jāgrat is highest Svapna Svapna is medium and Svapna Sūṣuptiḥ is lowest.

एवं लोकयोग्यनुसारेण व्याख्याते जागरादित्रये शक्तिचक्र संधानात् विश्व संहारेण यस्य तुर्याभोगमयत्वं अभेदव्याप्त्यात्मकं स्फुरति स तत् धाराधिरोहेण तुर्यातीतं पूर्वोक्तं चैतन्यं आविशन्—

एवं—when this जागरादित्रये—three-fold way of Jāgrat etc. have been व्याख्याते—explained लोकयोग्यनुसारेण—from worldly point of view, शक्ति चक्रसंधानात्—and from yogic point of view, by the process of uniting with the group of Śāktis i.e. collective wheel of energies, विश्व संहारेण—through the cancellation of the universe, यस्य तुर्याभोगमयत्वं—one who has attained expansive state of God-consciousness in every state of Jāgrat etc. अभेद व्याप्त्यात्मकं—full of the consciousness of non-difference स्फुरति—shines, स तत् धाराधिरोहेण—he ascends and gets established in तुर्यातीतं—the Turyātīta state (the state beyond the turyā the supreme Summit of Turyā), आविशन्—enters, पूर्वोक्तं—previously described as चैतन्यं—caitanya.

त्रितयभोक्ता वीरेशः॥ ११॥

Tritaya bhoktā Vīreśaḥ

त्रितय—all these three states (Jāgrat etc.) भोक्ता—enjoyer, वीरेशः—lord of heroes or master of the senses.

The one who has digested (assimilated) all these three states in God-Consciousness (Turyā) is the Lord of heroes or master of his senses or the one who eats or enjoys all the three states of Jāgrat etc. in Turyā he becomes the master of active organic energies.

एतत् जागरादि त्रयं शक्ति चक्र अनुसंधान युक्त्या, तुर्यानन्दाच्छुरितं यः तत्परामर्श अनुप्रवेश प्रकर्षात् विगलित भेद संस्कारं आनन्द रसप्रवाहमयं एव पश्यति स त्रितयस्य अस्य भोक्ता—चमत्कर्ता।

एतत्—this, जागरादित्रयं—three-fold state of waking etc. शक्तिचक्र अनुसंधान युक्त्या—by means of the awareness of his or by the process of uniting with the group of Śāktis—collective wheel of energies, यः—whosoever, पश्यति—observes, तुर्यानन्द—the joy of fourth state Turyā, आच्छुरितं—steeped in or mixed, तत्परामर्श अनुप्रवेश प्रकर्षात्—by the intensity of the blissful

experience of the fourth state, विगलित—dissolved, भेद संस्कारं—the impression of duality, आनन्दरसप्रवाहमयं एव—the flow of the experience of bliss, स—he, त्रितयस्य अस्य—all the three states, भोक्ता-चमत्कर्ता—becomes enjoyer.

Whosoever observes this three fold state of waking etc. as mixed in the bliss of the fourth state Turyā, by means of the process of uniting with the group of Śaktis—collective wheel of energies, as full of the flow of the experience of bliss, in which all the impressions of dualistic state are vanished by the intensity of the fourth state's blissful experience, he becomes the eater or enjoyer of supreme I consciousness in all the three states of Jāgrat etc.

तत एव—therefore,

त्रिषु धामसु यत् भोग्यं, भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।

वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥

त्रिषु धामसु—in all the three states, यत्—whatever is, भोग्यं—where objectivity exists, भोक्ता—where subjectivity exists, प्रकीर्तितः—said, यस्तु वेद एतत् उभयं—one who is aware of both, स—he भुञ्जानो—by enjoying both, न लिप्यते—does not get stained or polluted.

One who is aware of both where objectivity exists and where subjectivity exists (I see the carpet is objectivity one who feels this is carpet this is subjectivity) these two to be the object and the subject of experience are found in all the three states of waking, dreaming and deep sleep. A yogi, who feels these two, aware of it, does not get stained or polluted even by enjoying that

इति नीत्या निःसपल स्वात्म साम्राज्योऽयं परमानन्द परिपूर्णः भवभेद ग्रसन प्रवणानां वीराणां—इन्द्रियाणां, ईश्वरः—स्वामी, श्री मन्थानभैरवसत्ता अनुप्रविष्टः महाम्नायेषु उच्यते। यस्तु एवंविधो न भवति, स जागरादि अवस्थाभिः भुज्यमानः लौकिकः पशुः एव। योगी अपि इमां धारां अनधिरूढः न वीरेश्वरः अपि तु मूढ एव इत्युक्तं भवति।

एतत् च

योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा।

स स्वच्छन्द पदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत्॥

इत्यादिना श्री स्वच्छन्दादिशास्त्रेषु वितत्य दर्शितम्।

स्पन्देऽपि

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी।

नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु॥

इति कारिकया संगृहीतं एतत्॥

इति नीत्या—in this way, निःसपन्न—enemyless, स्वात्म साम्राज्यः—unrival kingdom, अयं—that yogi, परमानन्दपरिपूर्णः—filled with supreme bliss, भवभेद ग्रसन प्रवणानां—bent upon destroying the differentiatedness of world or universe वीराणां—इन्द्रियाणां—energies of organ, ईश्वरः—स्वामी, he becomes the master of those, श्री मन्थान भैरव सत्ता अनुप्रविष्टः—he becomes one with Manthāna Bhairava who churns everything in one universal consciousness, महाम्नायेषु—in great scriptures, (Bhairava Śāstras are called as Mahāmnāyas) उच्यते—is said यस्तु—one एवंविधो न भवति—who has not attained this supreme summit of consciousness, स—he, जागरादि अवस्थाभिः भुज्यमानः—is being enslaved by these three states of waking etc. लौकिकः पशुः एव—and remains simply the usual empirical subject. योगी अपि—yogi also, इमां धारां अनधिरूढः— who has not achieved this supreme summit of consciousness न वीरेश्वरः अपितु मूढ एव इत्युक्तं भवति—is not वीरेश्वर—the master of energies of organs but he is also as good as पशुः—confounded being, this is what is said.

This point, श्री स्वच्छन्दादि शास्त्रेषु in Svachchanda Śāstra etc., वितत्य दर्शितं—in detail, explained इत्यादिना—in the following verse:-

योगी—the yogi, स्वच्छन्द योगेन—by means of Svachchanda yoga, स्वच्छन्द गति चारिणा—functioning freely, स—he, स्वच्छन्द पदे युक्तः—is united with status of Svachchanda, स्वच्छन्द समतां व्रजेत्—and establishes equality with Svachchanda.

स्पन्देऽपि—In Spandakārikā also, एतत् संगृहीतं—the same has been explained, इति कारिकया—in the following verse:-

सुप्रबुद्धस्य—the fully enlightened स्यात्—has सततं—ever, and नित्यं—always, तस्योपलब्धिः—the knowledge of that reality, त्रिपदा—in all the three states,

अव्यभिचारिणी—without any interruption, परस्य—the other only तत् आद्यन्ते—at the beginning and at the end.

In this way that yogi enjoys enemyless unrival kingdom, filled with supreme bliss becomes the master of his senses that are bent upon destroying the differentiatedness of universe. In the great Scriptures, he is said to have become one with Manthāna Bhairava who churns everything in one universal consciousness. One who has not attained this type of status is being ordered by these three states of waking etc. and he remains simply the usual empirical subject, yogi also, who has not achieved this supreme summit of consciousness is not the master of energies of senses but he is also as good as Paśu—the bounded being. In Svachchanda Śāstra, this point has been explained in detail in the following verse:-

Yogi Svachchandayogena Svachchanda gati cāriṇā
Sa Svachchanda pade yuktaḥ Svachchanda samatām vrajeta.

The yogi, by means of Svachchanda yoga, functioning freely, he is united with status of Svachchanda and establishes equality with Svachchanda.

In Spandakārikā also the same has been explained in the following verse:-

Tasyopalabdhiḥ satatam tripadāvyabhicāriṇī
nityam syāt suprabuddhasya tadādyante parasyatu.

The fully enlightened has ever and always the knowledge of that reality in all the three states without any interruption, the other has only at the beginning and at the end.



Upāyas

As explained in Kashmir Śaivism

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāj

The meaning of the Sanskrit word *upāya* is 'means'. The word *upāya* in our Kashmir Śaivism is used to indicate the way and means to enter from individual consciousness into Universal God Consciousness. Our Śaivism proclaims that there are three means for entering into Universal God Consciousness. *Śāmbhavopāya*, the supreme means, *śāktopāya* the medium means, and *āṇavopāya*, the inferior means.

Śāmbhavopāya

Śāmbhavopāya, the supreme means, functions in *mātrikā-cakra*, *pratyāhāra*, and *pratibimbavāda*. The definition given in the *Mālinīvijayottaratantram* for *Śāmbhavopāya* is "The one who preserves thoughtlessness". By preserving thoughtlessness, that is, not having thoughts and maintaining the continuity of that thoughtlessness, and by the grace of the Master he enters into that transcendental consciousness where he finds that this whole universe has come out from sentences and sentences from words and words from letters and letters from that real "I" which is *Parama Śiva*. Here he finds that this whole universe is reflected in his own consciousness and that it is reflected from within rather than from without.¹

Śāmbhavopāya is called *icchopāya* because it originates from *icchā śakti* and because it is that means which exists in the state of the meant. In *Śāmbhavopāya* there are no means to travel upon. It is the meant. The rest is automatic. Here, only the grace of your Master is necessary. It must be realized, however, that you yourself must come to this point where you reside in the meant and this you do by maintaining the continuity of thoughtlessness. Up to this point, therefore, there is still something to be

१. अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।

जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः॥

Akinicicintakasyaiva guruṇā pratibodhataḥ/
jāyate yaḥ samāveśaḥ śāmbhavo sāvadāhṛtaḥ//

Mālinīvijayottaratantram:II: Verse 23

done. When you reside only in the meant it is then the grace of your Master that carries you. You must reach that state where only Master shines for you. This means that you must merge in your Master's consciousness. In this state you do not exist, only your Master exists. Master selects disciples for this *upāya* who are highly developed in awareness. Until then they will not be accepted by their Master for this *upāya*. In this *upāya* the Master functions more than does the disciple.

In our Kashmir Śaivism we say,

स्व मुक्तिमात्रे कस्यापि यावत् विश्वविमोचने।
प्रतिभोदेति खद्योतरत्नतारेन्दुसूर्यवत्॥

*Sva muktimātre kasyāpi yāvadviśvavimocane/
pratibhodeti khadyota ratnatārendu sūryavat//*

Tantrāloka: XIII: 159

“A light bug shines only for himself, jewels shine not only for themselves but for a few others also, the stars shine for even more, the moon shines for still more, and the sun for the whole universe. In the same way he who is established in the *śāmbhavopāya* state shines like the midday sun for the whole universe.”

As the light bug has sufficient light to show his own body there are those yogins that are sufficient only for themselves, they cannot help anybody. There are also yogins, who like jewels, shine so that their light illumines those that are near. Those yogins that shine like stars illumine even more with their light. Those that shine like the moon illumine still more. But the Śaivite yogī, established in *śāmbhavopāya*, is just like the sun, he illumines the whole universe.

Śāktopāya

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शक्तः सोऽत्राभिधीयते॥

मालिनी विजय (II.22)

Śāktopāya is that *upāya* which is functioned by the means of energies. *Śāktopāya* is called *jñānopāya* as it is the means which originates from *jñāna śakti*, the energy of knowledge. Here, the aspirant is more important than the Master because he must make himself capable of receiving the

Master's grace. He must work to develop great velocity of awareness until he reaches the "feet of the Master". By feet I do not mean the physical feet of the Master. "Being at the feet of the Master" means reaching that state where the aspirant is capable of receiving the grace of the Master. Those who reach that state are said to be at the "feet of the Master".

In *śāktopāya*, the yogi does not have to recite mantras or be aware using his breath or concentrate on any particular spot. He has only to see and concentrate on that Supreme Being that is found in two actions without actions. This is called centering in the *Vijñāna Bhairava Tantra*.¹ In *śāktopāya* centering can be practiced between any and all actions and or thoughts. In centering, the yogī must develop great velocity of awareness. Great velocity means firmness of awareness. Awareness must not become loose. If the yogi's awareness becomes loose he will be forced out of *śāktopāya* into the lowest *upāya*, *āṇavopāya*. He will lose the right to tread on the path of *śāktopāya*. In his practice there must be continuity in the cycle of his awareness. Only by maintaining an unbroken chain of awareness will he be able to find out the reality between any two thoughts or actions. The practice of centering is meant to be functioned between any two actions or any two thoughts. He can center between any two thoughts or any two movements, between one thought and another thought, between waking and dreaming, between one step and the next step, between one breath and the next breath. All actions and all thoughts are the proper framework for the practice of *śāktopāya*. The *śāktopāya* yogi must simply insert breakless awareness in the center of any two actions or thoughts. If his awareness is faulty and is not breakless then he falls and enters into the lowest *upāya*, *āṇavopāya*.

Āṇavopāya

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।

यो भवेत्तु समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥

—मालिनी विजय (II.21)

Āṇavopāya is concerned with *aṇu*, the individual soul. *Āṇavopāya* is that *upāya*, that means, which is functioned by the process to concentrat-

1. "madhyani samāśrayet";

ing on *uccāra* (breathing), *karaṇa* (organs of sensation), *dhyāna* (contemplation), and *sthāna prakalpanā* (concentrating on some particular place).

The word '*uccāra*' means 'breathing'. *Uccāra* actually means concentration on the breath. Concentration on the breath is the essential element of the practice of *cakrodaya*. In practicing *cakrodaya* you have to continue breathing deeply and find out the point, the centre between the two breaths, the incoming breath and the outgoing breath. This is the ending point, the beginning point, and also the centre of the span of the breath. In *cakrodaya*, however, the beginning points and ending points of the span of the breath are predominant. This is *uccāra*, concentration on the breath. It can be either with sound or without sound.

'*Karaṇa*' means 'organ' and in particular it means 'sense organ'. Concentrating on *karaṇa* means having and maintaining onepointedness through vision or through any other sense organ. In *karaṇa* the sense of sight and seeing is predominant. For example, in concentrating on *karaṇa* through the sense of sight you have to look at some particular thing. You must go on looking without blinking your eyes. You should go on seeing that one point with unbroken awareness. And when that point vanishes, and it should and will vanish when you enter in that vastness of the centre that is the end. If you were to practice concentrating on *karaṇa* through the sense of hearing then you have to listen to some sound and continue listening and repeating that sound again and again and hearing that sound. You can also practice by concentrating on some taste or some particular sensation of touch. In *karaṇa* you can employ all the five organs of sensation, however, with those senses other than sight you have to remain aware of where the first sensation arises. This is the way of *karaṇa* in *āṇavopāya* and in the long run this creates onepointedness.

The word '*dhyāna*' means contemplation. It is another mode in *āṇavopāya*. *Dhyāna* is contemplation on some point. There are different forms of *dhyāna*. For example, you are practicing *dhyāna* when you contemplate on the lotus in your heart, or on the meaning of some mantra¹ such as the mantra "*so'ham*" or the mantra "*Śiva*". This is a higher form of *āṇavopāya* because it is contemplation without any shape, without any

1. All mantras have meaning.

form. If you were to contemplate on Lord Śiva as having a particular shape, that is a lower form of *āṇavopāya*, it is contemplation with form.

Therefore, anytime in meditation that you have mantra then you have *dhyāna*. And along with *dhyāna* you can also adjust *karāṇa* and *uccāra*, but not in the beginning.

'*Sthāna prakalpanā*' means concentration on some particular place. The higher form of *sthāna prakalpanā*, which is a practice in higher *āṇavopāya*, is that practice where you have to find out which reality is where in the span of the breath. You have to see where the *devas* are residing, where the *lokapālas* are residing, where is the location of dawn, where is the location of morning, where is the location of midday, where is the location of sunset (*sandhyā*), where is the location of midnight. Where is that location which is the time when the sun moves toward the Northern side, and where is that location which is the time when the sun moves to the Southern side. These are all *sthāna prakalpanā*, and these are the particular points you have to concentrate on, to discover in the course of your breath.¹ The practice of *sthāna prakalpanā* is simply to see the vastness of this universe in one breath.

The second and lower form of *sthāna prakalpanā*, which is a practice in lower *āṇavopāya*, is where you concentrate on different points in the body. These particular places for concentration are divided into three. One particular place for concentration is between the two eyebrows (*bhrūmadhya*). The second place for concentration is the pit of the throat (*kaṇṭha kūpa*). And the third place of concentration is the heart (*hṛdaya*).

All of these processes, *uccāra*, *karāṇa*, *dhyāna*, and *sthāna prakalpanā*, are called the *upāyas* of *jīva*, the means of the individual and are the means which exist in *āṇavopāya*.

Āṇavopāya is the means found in the world of duality and is known as *bhedopāya*. The means which exists in the world of mono-duality, in

1. In the practice of *sthāna prakalpanā* there are points in the breath which you must concentrate on. In the practice of *uccāra* there is no need to concentrate on each and every point in passage of the breath. In this practice you have to concentrate on only one point.

the world where duality exist together, is *śāktopāya* and is called *bhedābhedopāya*. That means which exists in the world of pure monism (*abheda*) is *śāmbhavopāya* and is called *abhedopāya*.

Śāmbhavopāya is also called *icchapāya* as it is the means which exists in *icchā śakti*. The means which exists in *jñāna śakti* is *śāktopāya* and is called *jñānopāya*. *Āṇavopāya* is called *kriyopāya* because it is the means which is found in *kriyā śakti*.

The difference between *āṇavopāya*, and *śāmbhavopāya* is this. In *āṇavopāya* the strength of your awareness is such that you have to take the support of everything as an aid to maintaining and strengthening your awareness. Though you concentrate on the center you need to take the support of two things for concentrating on that center. In *śāktopāya* your awareness is strengthened to the extent that only one point is needed as a support for your concentration and that point is the center. In *śāktopāya* you begin with the center and then become established in that center. In *śāmbhavopāya* the strength of your awareness is such that no support is needed. You are already residing in the meant. There is nowhere to go, just reside at your own point. The rest is automatic.

It is important to realize that though there are different *upāyas*, yet all of these *upāyas* lead you to the state of one transcendental consciousness. The difference in these *upāyas* is that *āṇavopāya* will carry you in a long way, *śāktopāya* in a shorter way, and *śāmbhavopāya* in the shortest way. Although the ways are different: the point to be achieved is one.

Anupāya

Beyond these three *upāyas*, *śāmbhavopāya*, *śāktopāya*, and *āṇavopāya*, there is another *upāya*. Although it is not actually an *upāya*, yet it is mentioned in Kashmir Śaivism. This *upāya* is called *anupāya*. The word '*anupāya*' means '*no upāya*'. '*Thoughtlessness*' is called *śāmbhavopāya*. 'One-pointedness' is called *śāktopāya*. Concentration on and with the support of mantra and breathing and all other elements is called *āṇavopāya*. Above all of these is *anupāya*. In *anupāya* (अनुपाय) the aspirant has only to observe that nothing is to be done. Be as you are. If you are talking, go on talking. If you are sitting, go on sitting. Do not do

anything, only reside in your being. This is the nature of *anupāya Anupāya* is attributed to *ānanda śakti* (आनन्दशक्ति) of Śiva and is called *ānandopāya* (आनन्दोपाय).

extracts from
Kashmir Śaivism
by Svāmī Lakṣmaṇa Joo



THINK IT OVER

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुराणिः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥

All works lead to further bondage and rebirth. Due to love and hatred these actions appear to be different from one another. Man does good and bad actions through attachment and thus gets more and more births. There is again action after rebirth. In this way the course of worldly life revolves like a wheel.

अज्ञानमेवास्य हि मूल कारणं
तत् हानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥

The root cause of this is ignorance; removal of ignorance is the only means for destroying this course of worldly life. Knowledge alone is competent to remove this ignorance. Action cannot destroy it, because it is born of ignorance and is not its opposite.

— Gems from *Rāma Gītā* (of *Ādhyātma Rāmāyaṇa*)

The Secret Exposition of Amṛteśvara Bhairava Mantra

by Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

(Continued from last issue)

ओं ग्लूं गं गणपतये नमः

om glūm gam gaṇapataye namaḥ

om glūm gam gaṇapataye namaḥ

om glūm gam gaṇapataye namaḥ

I bow before Lord Ganesha.

ओं बोल सद्गुरु महाराज की बार-बार जय

om bol sadgurū mahārāj kī bār bār jai

om bol sadgurū mahārāj kī bār bār jai

om bol sadgurū mahārāj kī bār bār jai

I bow again and again before my divine teacher who is just like a great king.

ओं आज्ञनेयाय रामदूताय महाबलाय स्वाहा

om āñjaneyāya rāmadūtāya mahābalāya svāhā

om āñjaneyāya rāmadūtāya mahābalāya svāhā

om āñjaneyāya rāmadūtāya mahābalāya svāhā

I give offerings to the son of Añjani (air) who is the real messenger of Lord Rāma and who possesses the great strength.

ओं नमः शिवाय

om namaḥ śivāya

om namaḥ śivāya

om namaḥ śivāya

I bow before Lord Śiva

अंघोरेभ्योऽथघोरेभ्यो

घोर-घोर तरीभ्यश्च

सर्वतः शर्व! सर्वेभ्यो

नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः ॥३॥

agherebhyo' tha ghorebhyo
ghoraghoratarībhyāśca
sarvataḥ śarva! sarvebhyo
namaste rūdrarūpebhyāḥ ॥3॥

O Lord Śiva! You alone transform yourself into all forms, into the forms of the powers of Rudra as Aghora, the enlightening and uplifting energy, Ghora, the frightful darkening energy which pushes one down and Ghoragora, the energy which keeps one fixed neither rising nor falling. These forms, embodied in Rudra Śiva, are helpful to the aspirant while he is aware, and frightful for the one who is ignorant, pushing him down and down.

In the following verses, composed by Abhinavagupta in the Tantrāloka, he describes how he meditates and worships his Lord through mind, not through physical offerings.

कृत्वाधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाक्षणाक्षालिता-
मातैर्मनसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसंदोहिभिः।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमात्
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम्॥

kṛtvādhāradharāṁ camatkṛtirasaprokṣākṣaṇakṣālītā-
māttairmānasataḥ svabhāvakusumaiḥ svāmodasaṁdohibhiḥ /
ānandāmṛitanirbharasvahrīdayānarghārgḥapātrakramāt
tvām devyā sahadadevasadane devārcaye' harnīśam //

Meditating upon her, I bathe that Goddess with water which is the nectar of the ecstasy which She produces as cit kuṇḍalinī in mūlādhāra cakra. Then after bathing her, through mind I collect the flowers of absolute bliss produced by her. These flowers, with the fragrance of ecstasy, are produced by her own nature in flowing out. Then, placing these flowers in that priceless sacrificial pot, which is my own heart and which is filled with the nectar of bliss, I worship you, O Lord Śiva, along with your Śakti day and night in the temple of my body.

नानास्वादरसामिमां त्रिजगतीं हृच्चक्रयन्त्रर्पिता-
 मूर्ध्वार्धस्तविवेकगौरवभरान्निष्पीड्यनिःष्यन्दितम्।
 यत्संवित्परमामृतं मृतिजराजन्मापहं जृम्भते
 तेन त्वां हविषा परेण परमे संतर्पयेऽहर्निशम्॥

nānāsvādarasāmimāṁ trijagatīṁ hṛiccakrayāntrārpitā-
 mūrdhvhādhastavivekagauravabharānniṣpīdya niḥsyanditam /
 yatsamvitparamāmṛitaṁ mṛitijarā janmāpaham jṛimbhate
 tena tvām haviṣā pareṇa parame santarpaye'harniśam //

Then, through mind I collect these threefold states of the world, which give rise to numerous sensations; the world of objectivity, the moon, having soft taste : the world of subjectivity, fire, having a harsh and hard taste; the world of cognition, the sun, possessing both the warmth of fire and the softness of the moon, and which is existing inside and outside of one's own body, and I establish them in the wheel of the heart where I discriminate between them. Here the wheel of the moon (objectivity) is above and the wheel of fire (subjectivity) is below. Through the strength of my meditation, I squeeze them together producing the supreme nectar of God Consciousness. By this nectar the three threats, death, birth and old age are kept away. O Lord, while residing in that supreme state of God Consciousness, I worship you day and night with the supreme offering of this nectar.

कालाग्निरुद्रात्प्रसृतं च तेजो
 भूरि स्फुटं दीप्ततरं विचिन्त्यम्।
 ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रकला च शान्ता
 पूर्णामृतानन्दरसेन देवि॥

kālāgnirudrāt prasṛitaṁ ca tejo
 bhūrisphuṭaṁ dīptataraṁ vicintyaṁ /
 ūrdhve sthitā candrakalā ca śāntā
 pūrṇāmṛitānandaraseṇa devī //

I meditate imagining that kālāgni rudra rises from the big toe of my left foot as fire, fiery bright and radiant, and that candrakalā absolutely delightful and filled with the supreme nectar of God Consciousness, residing in sahasrārdha cakra, the residence of śāntātītā kalā descends

and they both meet at the place of the heart. That is the embrace of objectivity and subjectivity.

तदोभयोर्वह्निविषानुयोगात्
तेजश्शशांकौ द्रवितौ च यस्मात्।
तेजश्शशांकस्फुटमिश्रितत्वाद्
भवेत् तदार्क त्ववताररूपम्॥

tadobhayorvahniḥ viṣānuyogāt
tejaśśaśāṅkau dravitau ca yasmāt /
tejaśśaśāṅka sphuṭamiśritatvāt
bhavet tadārkaṁ tvavatārārūpam //

Completely through mind I compress together at the location of my heart both the fire of kālāgni rudra and the nectar of candrakalā. There the fiery light of kālāgani rudra and the blissful light of the moon are melted and mixed together and out of this mixture is produced that incarnation which is the real sun of God Consciousness.

परस्परसमाविष्टौ चद्रेऽग्नीष्टीटिभे शशी
चन्द्रं सृष्टिं विजानीयादग्निःसंहार उच्यते।
अवतारो रवि प्रोक्तो मध्यस्थः परमेश्वरः॥

paraspara samāviṣṭau candre'gnīṣṭīṭibhe śaśī /
candraṁ sṛiṣṭiṁ vijānīyāt agniḥ saṁhāra ucyate //
avatāro raviḥ prokto madhyasthaḥ parameśvaraḥ //

When the element of the moon, the creative cycle, and the element of fire, the destructive cycle, are mixed together, one in the other, then in the centre of these two God Consciousness is incarnated. This is the Sun, this is Lord Śiva himself.

Now Abhinavagupta teaches us how to accomplish this worship through the mind.

ततः सकाशात्प्रभवाप्ययौ स्तो
यस्मादयं विश्वसमग्रभेदः
एतच्च विद्वान् विदितार्थभावो
ध्यायेत युक्तयात्मचिदर्करूपम्॥

tataḥ sakāśātprabhavāpyayausto
 yasmādayaṁ viśvasamagrabhedah /
 etacca vidvān viditārthabhāvo
 dhyāyet yuktyātmacidarkarūpaṁ //

From that Being which is Real God Consciousness, and which comes out from the compression of these two aspects, subjectivity and objectivity, is produced the destruction and creation of 118 worlds. From this state of the sun, which is the real nature of God Consciousness, the full glory of manifestation has come into existence. This mental worship is to be accomplished by that elevated aspirant who has really understood the reality of subjectivity and objectivity. Employing a divine technique taught to him by his master, he must meditate on the fact that it is one's own self who is the actual being of the sun, God Consciousness.

Om namaḥ śivāya
I bow before Lord Śiva.

द्वारेणा नवरन्ध्रगा हृदयगो वास्तुर्गणेशो महान
 शब्दाद्या गुरवः समीरदशकं त्वाधारशक्त्यात्मकम्।
 चिदेवोऽथ विमर्शशक्तिसहितः षाड्गुण्यमंगावलि-
 लोकेशाः करणानि यस्य महिमा तं नेत्रनाथं स्तुमः॥

Dvāreṣā navarandhragāḥ hṛdayagovāsturgāṇeśo mahān
 śabdādyā guravaḥ samīradaśakaṁ tvādhāraśaktyātmakam /
 ciddevo'thavimarśaśaktisahitaḥ ṣaḍguṇyamāṅgāvali-
 rlokeśāḥ karaṇāni yasya mahimā taṁ netranāthaṁ stumaḥ //

I bow to that Netranātha, Amṛteśvara, who is fond of His nectar producing third eye, and in whose glamorous body the nine openings are nine doorkeepers which are the nine incarnations of (Dvāreśa) Gaṇeśa; whose heart is Gaṇeśa, His son and the director of the one hundred Vāstu Devatas; whose five sensations are the five classes of Masters (caryā, melāpa, yoga, śākta, and śāmbhāva siddhas); whose mūldhāra cakra consists of the ten layers of vayu; who is the Lord of Consciousness always united with His energy of Consciousness; whose six limbs are His six universal attributes—: all knowingness, complete fullness, eternal knowledge, absolute freedom, inexhaustible energy, and infinite energies; and

whose ten internal organs are the ten protectors of this world protecting it from all ten sides.

विगलति भवदौर्गत्यं मोक्षश्री श्रयति हृत्कजं कचति।
प्रसरति परमानन्दो यत्र तदीशार्चनं जयति॥

vigalati bhavadaurgatyaṁ mokṣaśrīḥ śrayati hṛtkajaṁ kacati /
prasarati paramānando yatra tadīśārcanaṁ jayati //

Wherein, whose worship the misery of this universe is brought to an end and the possession of the wealth of salvation appears. Where the lotus of the heart blooms and the Supreme blissful state flows from all sides. Let that worship be glorified always.

ॐ जुं सः अमृतेश्वरभैरवाय नमः॥१०॥

Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ
Om Juṁ Saḥ Amṛteśvara Bhairavāya Namaḥ

*Courtesy— John Hughes
(an ardent devotee of Svāmī Jī Mahārāj)*



MATHARĀ DEVĪ - A PROFILE

- Late Pandit Jankinath Kaul 'Kamal'

A conceptual glimpse of Lalla Yogeshwari comes to my mind when, in a moment of calm and piety, I remember Śivasvarūpā Matharā Devī whose discourses I attended at Śivālaya temple premises in Srinagar-Kashmir about half-a-century ago. I recollect her cuckoo-voice in which she sang verses from the Yoga-vāsiṣṭha, the Bhagavadgītā and Ātmabodha to explain the tenets of Vedānta philosophy that she followed and lived.

The few verses I recall, are :

वरं शरावहस्तस्य चाण्डालागारवीथिषु।
भिक्षार्थमटनं राम न मौर्ख्यहतजीवितम्॥¹

Vasiṣṭha says—'O Rāma! it is better to go about the streets of caṇḍālas begging for food than to waste this life in ignorance'. Thereby Matharā Devī meant to convey that it is the first and foremost duty of a human being to attain knowledge of the self and realize God.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥²

Lord Kṛiṣṇa says—'O Arjuna! Thy right is to work only; but never to the fruit thereof. Be thou not the producer of the fruits of (thy) actions; nor let thy attachment be towards inaction'.

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखं।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारय॥³

'Realize that to be Brahman, the attainment of which leaves nothing more to be attained, the blessedness of which leaves no other bliss to be desired and the knowledge of which leaves nothing more to be known'.

Matharā Devī, in her appealing way throughout the discourse, impressed on the people, men and women, young and old, the importance

1. Yogavāsiṣṭha Sāra, Verse 26

2. Śrīmad Bhagavadgītā, II-47

3. Śaṅkarācārya's Ātmabodha, Verse 54

of developing right conduct so that they could follow the right path of knowledge leading to the attainment of peace and bliss in life. She laid stress on individual advancement as the essential pre-requisite for general social upliftment. This would help society attain sound spiritual knowledge to make life worth living on the earth. She believed that social welfare and fellow-feeling went a long way in developing spiritual conduct. From the philosophical point of view her speech had in it a ring of conviction, and was filled with hope and grace. This gave a particular kind of joy to her disciples and devotees, drawn to her presence. She gave pragmatic solutions to social problems in the same way as the exalted Alakheswari Ropabhawani of the 16th century, Kashmir, had given to her people then.

Matharā Devī was endowed with magnetic personality. Matted locks strewn the shoulders of her well-built body that shone through her long clothing like moon-light coming through the leaves of a chinār tree. The rosaries of Rudrakṣa round her wrists and neck made her look like Śiva adorned with snakes. Her skin looked as if besmeared with white ashes from the very fire of Śiva. It was silvery like the body of Śiva Himself. In fact she looked like Śiva in all respects. Her very being, both internal and external, was Śivasvarūpa. In fact, through the worship of Lord Śiva, she had herself got transformed with Śiva- शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।¹

It was on a pleasant day of Bādrapada Kṛṣṇapakṣa Caturdaśī in the year 1938 Vikrami era corresponding to 1879 A.D. that Matharā Devī was born at Vernag village, about 70 kms. to the south of Srinagar in Kashmir. In ancient time Vernag was famous by the name Nilanāg as it was here that Nīlamata Purāṇa is said to have been composed. Vernag has remained famous mostly for two reasons. One is that this famous spring is the source of Vitasta (river Jhelum) that flows through the valley; and the other reason is that its remarkable natural beauty and charm has drawn to it saints and lovers of solitude. Later the place became an attraction for the tourists.

Matharā Devī's parents lived in their ancestral home by the side of the Nīla Gaṅgā stream that flows from the nearby spring Vernag. Now the whole area of the village is known as VERNAG. Pandit Hariram Kaul and

his noble wife Bonimal led a pious and benevolent life of house-holders. Devījī was born to them in a queer situation. Hariram's father was on his death-bed when it was delivery time for Bonimal. To ensure that she had an easy and safe delivery, arrangements were made to send her to her father's house at Panzu village about two kilometers away from Vernag. It so happened that enroute Devījī was born to her near the cremation ground which got lit up at that time. Nature blossomed as if to indicate that a great soul had taken birth.

Devījī showed signs of spiritual fertility from her very birth. The religious atmosphere at home was congenial to her. Later she would often lose herself while offering worship to Śiva. Worldly objects had no attraction for her. She served the sadhus who came to Vernag shrine, with devotion and care. She would forget her meal while bandaging the bursting boil on a sadhu's leg, or treating one who suffered from fever. She only wanted to be free from mundane life and live upto her spiritual ideals. She was an embodiment of compassion and was filled with the spirit of renunciation.

At the age of ten years Matharā Devī made friends with a blind girl of her age. Out of an urge for gaining spiritual knowledge she prevailed upon her friend to join her in leaving home in the guise of boys. But the plan leaked through the other girl and the attempt was foiled by the parents of Devījī.

Devījī had two sisters. Her brother Pandit Govind Kaul, was a sociable man, well-known for his selfless work. Devījī was married to a Brāhman boy, Pandit Bhagwān Dass of Anantnag. But her untainted married life lasted only for two years after which she came to live in her parental home. Here she devoted herself to severe penance in search of the Supreme Lord. For this task she needed solitude. One day, in her prime, she ran to a hill-top, threw away all her ornaments down the hill like pieces of stone and earth and sat there with a purpose. Her relatives searched for her and soon came to know her resolve. They persuaded her to return home but it was all in vain. As their last attempt to move her mind the parents sent their friend, an old Gujar to her. He gave her a practical advice that worked well on her. He said, "Dear child! A woman is like a baagirkhaani.¹

1. Kashmiri name of a chapati fried in clarified butter.

Keep it in a room, the rat is after it, keep it in the compound, the dog will jump at it. Keep it on a wall, a kite or a crow will pounce upon it. It always needs protection and care". At first Devījī replied, "Do not frighten me thus. I am only the brave spirit in woman's garb only". Then with further persuasion the advice appealed to her discriminating intellect and she returned home.

Now it was time for Matharā Devī to be guided by a preceptor. God's grace was revealed to her. One fine day Shri Shridhar Joo Kual (Sharabi), resident of Shalla Kadal, Srinagar (Kashmir), who was a patvari of the Vernag region, came to her as if it was pre-ordained. The moment Devījī saw him for the first time, she bloomed like a rose. Shridhar Kaul ji must have been a person of high spiritual attainments and learning. He said to her, "I am directed to come to you for guidance". Matharā Devī proved herself a disciple of a high order. To please her preceptor she got clean and pure water from a distance of two miles after cutting ice with her fingers during winter. The fingers got snow-burnt and the nails on them did not grow at all for the whole of her life. Her body-build was wonderful. Like Lalla Yogeshwari her belly had protruded like a piece of cloth to cover her private part. No loin cloth was needed by her when she took a bath.

Devījī undertook a course of severe sādhanā in a temple at Vomuh, a village about 5 kms. from Vernag. There was only her mother to take care of her. The second time Devījī went to her maternal home at Panzu village to continue her sādhanā in the dense forest surrounding this village of natural charm. After three year's stay there she shifted to a select place at Aishmukām, a tourist forest resort now. But, in a month only, she was persuaded to return to her place. Her brother, Pandit Govind Kaul constructed a small hut for her on the bank of the Vitaṣṭa, quite adjacent to their residence. Devījī got a cave-like apartment built in it for following her spiritual practices. Side by side, she must have got study the wonderful book written under the sun, named Yoga-vasistha and other allied texts, probably, with the help of her preceptor Sri Shridhar Kaul. In this cave there were two people in constant service of Devījī: Reshi Dev used to bring her pure milk twice a day and Poshakuji did all the other service. Nobody else could go near the cave. After a rigorous penance for three long years Matharā Devī came out with spiritual glow on her face as clear

as the autumnal moon. She looked glorious and blissful like Śiva Himself with her matted locks falling to her feet. Her disciples bathed her in the stream nearby while chanting Śivamahimnastutiḥ. Her very hut glowed with spiritual aura and devotees poured in for a blissful glimpse.

Devījī undertook to perform Caturvidh Mahāyajña¹ followed by Puruṣacarana Yajna² at a spacious place near the spring. Famous learned Pandits of Kashmir were invited to make the performance magnificently righteous. She shone graceful like Śiva with the simple cloth on her snow-white body.

Matharā Devī had a wonderful power of determination. At the age of forty, before she determined to give up eating staple food one day she ate as much as was beyond one's imagination. Thereafter, she did not take any cooked food for all her remaining life. Then she shunned taking salt. She believed that restricted and moderate eating was conducive to spiritual advancement. She took only fruit and milk during the rest of her life and felt joy in feeding people, particularly Sādhus with varieties of cooked food. More and more people were impressed by her accomplishments.

After the elevated soul, Shridhar Kaul Sharabi, merged in the Supreme, Devījī moved to Srinagar (Kashmir) to see her Guru-mātā. There she addressed a big gathering of devotees who felt greatly blessed. She also met the famous saint-poet Pandit Krishna Joo Razdan³ of

-
1. A great sacrifice often mentioned in the four Vedas - a term applied to five daily sacrifices to be performed by a householder:

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो दैवो बलिर्भोतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

Manusmṛti 3-70-71

2. A great yajña particularly concerned with the repetition of Gayatri Mantra - the essence of the Vedas, for Citta-suddhi.
3. The twentieth century famous saint of stability lived at Vanpuh near Anantnag in Kashmir. 'Harihar Kalyan', a collection of his poems in Kashmiri was published by his disciple, Swami Harihara Kaul. The Asiatic Society, Calcutta published his complete works under the name 'SIVAPARINAYA' with Sanskrit 'Chhaya' (gloss) by M.M. Mukundaram Shastri and edited by Sir George A. Grierson in 1914-25, reprinted in 1989.

Vanpoh, who was a brother-disciple of her Preceptor. On the very first look at her the saint sang addressing her in glee:

मय कुकिलि डचीठअम भस्म म'लिथ वासुक हटे।

ओम् शिव शम्भू शब्द बोलुन ह्योतमुत छुन मटे॥

"I see the divine cuckoo

Besmear'd with sacred ashes;

Vasuki, the snake decorates her neck.

She's given to repeating the blissful name-

Aum Siva Sambhu".¹

Matharā Devī, then, invested with her spiritual glory, visited Tulamula village to make obeisance to Mahā Rājñā Kṣīr Bhavānī. She was in divine ecstasy. Thereafter she went to her place at Vernag and remained absorbed in devotion till she was sixty-five. Then she went on a pilgrimage to Amarnath Swāmī along with her female disciples. There she was graced with Śiva's glimpse in the form of Vāsuki.² She sang in ecstasy:

‘आयो दर्शन पायो रे, शम्भुनाथ आयो रे’

‘Come, have a glimpse; Śambhunatha has revealed His grace’. It was said by the disciples that she had refused to be back home, but her earnest devotees persuaded her to return.

In 1941-42 A.D., at the request of a deputation of her admirers and devotees. Matharā Devī moved to Srinagar and chose to live at Śivalaya temple premises. Moved on seeing the dilapidated condition of the temple she got it renovated, a wall built around and a widow welfare centre established. Anniversary yajña of her preceptor was performed there for many years on every Śrāvaṇa Śukla Aṣṭamī.³ Thereafter she used to offer worship to ‘Chhari’ of Amarnath yatra at Mattan (Mattand) where sadhus also were fed.

1. A long poem of eleven verses and two beating lines depicts Deviji's graceful behaviour describing her present and hinting upon the future that came out true.
2. The celebrated serpent, king of snakes (said to be a son of Kaśyapa)-Kumārasambhava 2.38 Vasuki is the special decoration of Siva's neck.
3. On this day pilgrims assemble at Mattan village at the shrine of Bhargasākha Deity to make start on Amarnath yatra following the Chhari.

Devji had a sacred dip at Sangam, Shādīpore in Kashmir, on the rare occasion that Kashmiris term Dasahara.¹ It comes once in about twelve years when a particular combination of stars is formed. Then she came to Srinagar. After constituting a managing body to take care of the Śivālaya Temple and its premises she went to stay at Durgānag at the request of the famous saint of sannyasi order, Sri Swami Sivaratna Giri. She lived there alone in a kutiya for about twenty-five years, disseminating spiritual knowledge. Kashmir's great saints of the time like Swami Atmaram Ji of Gosani Gund, Pandit Bira Kak of Vernag, Pandit Shivaji Chikan of Srinagar camped at Durganag temple premises for satsanga periodically. Unlike them, Matharā Devī observed strict seclusion. She allowed only her disciples and devotees to see her. Many were eager to become her disciples but very few men and women actually gained the favour. Among such men Pandit Shankar Kual Sathu and Pandit Shridhar Joo Kachroo were notable. Sri Moti Lal Bhan, who loves to call himself Jānakiputra, is also one of the ardent devotees of Devījī. He and other female disciples like Shrimati Dhanawati Dhar, Shrimati Satyamali and Shrimati Jaikishori Sapru² are at present living as displaced persons in Jammu and other parts of India. Some of Devījī's disciples have composed thought-provoking verses in Kashmiri, extolling her spiritual glory and grace.³

People of Srinagar thronged around the Devī to soothe themselves with her blissful glimpse and listening to her Upadeśa. She knew well how to keep people engaged in purposeful activity at all times. Nobody moved while she held a discourse; all remained absorbed in it. No side-talk, no gossip was possible in her presence. Her shrill voice pierced through every ear and her soothing personality attracted every eye in the audience while she spoke measured and pithy words of wisdom, giving quotations from

1. Like Kumbha Mela, held after long periods of time on a particular combination of stars at Prayagraj (Allahabad), Hardwar etc. in India.
2. Smt. Jaikishori Sapru, a retired Principal of a Higher Secondary School of J&K Govt., is one of the chief disciples of Mathara Devi. Recently she published a short biography in Hindi 'Siva-swarupa Mathara Devi' for free distribution, with a foreword by Pandit Jankinath Kaul 'Kamal'.
3. These Kashmiri poems convey movingly what is spelt out in Hindi prose in this biographical note. Most of these poems are reproduced in full in the short biography published in Hindi.

sacred texts. Soon after a discourse was over she directed the audience to repeat with devotion the mantra:

“ॐ श्रीमत् नारायणाय, नारायणाय, नारायणाय ॐ”

“Aum is the abode of Great Lord Nārāyaṇa”. This practice continued without a break while everyone in the audience would be sitting quiet or doing some specific work. All remained well-engaged every time.

In 1965-66 there broke out a big fire at Durganag. All the Dharamshalas were gutted. Devījī had to move back to Vernag. Now the elder son of her younger brother, Govind Kaul, made adequate arrangements for her stay at home. Thereafter she did not move out.

The writer of this short life-sketch was fortunate to listen to Matharā Devī at Śivālaya and go occasionally to Durgānag to have her blissful glimpse there for many years from 1942 onwards. Later on July 12, 1969 there came an opportunity to me and others to see the graceful saint when she was ninety years. Svāmī Lakṣmaṇ Joo, the doyen of Kashmir Śaiva Philosophy, camped for several days along with his disciples and devotees at Vyathavotur, about two kms. from Vernag. In this lonesome and beautiful village there is a small spring of crystal clear water with fish abounding in it. This is said to be the original source of the Vitasta and the deity is worshipped therein. Situated at a lower slope in one of the hills of Pir Panchal rage, Vyathavotur is an ideal place of Nature's magnificence. Svāmījī explained here select slokas from the Panchastavi of Dharmacharya and Sivastotravali of Utpaladeva, telling us with a good sense of humour that was going to give us the latest meanings. He got really ecstatic while explaining the meanings to lead us to the spiritual depths. The place resounded with our singing:

One of the pet verses that Svāmījī often repeated along with his disciples.

On one of these joyful days Svāmījī expressed his desire to pay a visit to Matharā Devī. Soon after taking lunch all the disciples followed him in a procession. Reaching Pandit Govind Kaul's house at Vernag Svāmījī entered the room where Devījī was seated on a bed with a quilt wrapped round her body. All of us could not be accommodated there; so we were

led to other rooms in the house. Even the corridor and the compound got filled. Svāmījī recited the following sloka of Abhinavagupta-pada and all of us joined him in chorus, to pay obeisance to Devījī:

तव च काचन न स्तुतिरम्बिके
सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च॥
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे
जगति जातमयत्नवशादिदम्।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता
न खलु काचन कालकलापि मे॥¹

“O Pārvati! since Thou art the root of all speech, I may sing Thy glory or do otherwise, all that is adoration to Thee.

Thou art present for me in all forms, both physical and mental.

When I ponder over these thoughts, O Mother, the supreme consciousness, the doer of good and destroyer of evil! without any effort on my part thus passes all my time in singing Thy glory, in repeating Thy names, in adoring Thee and in meditation on Thy true self”.

Matharā Devījī was filled with inexpressible joy and in an excited voice she addressed us all: “O fortunate devotees! How have you come upon this ‘thief of divinity’ (She used the phrase tsūrakatha (चूर कठ) in Kashmiri). You are really blessed to have him amongst you”. Then she talked to Svāmījī expressing her deep affection. Their exuberant talk soon turned into a lively conference. Then after reciting some more slokas at her bidding we wanted to take leave of her. “No, Lord Śiva has blessed me today”, gurgled Matharā Devī. Thereafter tea with bread was served to all of us. We then bowed to her and left the place with her blessings.

Those days Matharā Devī was looked after by Pandit Prithvinath Kaul, the worthy son of her younger brother Pandit Govind Kaul. The former’s wife Shrimati Somavati served her all those last years of her old

1. From Śivasaktyavinabhavastotra

age. Devijī lived for about 16 years more and at the ripe age of 106 years left the worn out mortal coil to merge in the Supreme Self on Saturday, the 5th of January, 1985 (Pauṣa Śuklapakṣa Caturdaśī) at 6 P.M. The news was broadcast on Radio Kashmir. People arrived from different parts of the country to pay homage to Brahmasvarūpini Matharā Devī. Three days thereafter cremation took place at Vernag itself, her devotees remembering her with slogans:

‘देवी जी अमर रहे, मथरा जी अमर रहे’

“Glory to Devijī, glory to immortal Matharājī” on every lip was her pet mantra sung tunefully in Kashmirised Sanskrit:

ॐ श्रीमत् नारायणाय नारायणाय नारायणाय ॐ”

The few utterances in a mixed language that Matharā Devī instilled into her devotees and disciples are reproduced hereunder :

तुल'कतर्युक लो'द म्य गर' लो लो
धार' कनि लोगमस मूह' अन्धकार
गर' अछतअ' लूभ'कि बरअ' लो लो
स्वस्वरूप मो'ठ म्य वयाह कर' लो लो

*'I constructed a house of icicles;
Used ignorance and delusion as timber,
I entered the house through the door of greed;
Alas! I forgot my own home (self)
What will be my fate?'*

ज्ञान छुन' लंग' प्यठ' टंग पर्ज'नावुन।
ज्ञान छुय सत् असत् गछि व्यचारुन॥

*Knowledge is not recognising a pear from the bough of its tree;
Knowledge comes by discrimination of right and wrong.*

काव कवस गछि पर पुरुषस दूर रोजुन

‘A female human being must be quite vigilant in saving herself from the company of another man’. Matharā Devī insisted on this point. When

at the last moment in her bed the doctor touched her wrist to feel her pulse. She took the wrist aside as if in a reflex action.

वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'The whole world is one family and we should behave with each other like brothers and sisters'. She had gone beyond the worldly relations of husband and wife and practised universal love like Mira Bhai.

She would often repeat:

राजा बज़ीर रानी, सब हो गया फानी
बज़ीर सुबर ज़ानी, सब हो गया फानी
सागर पहाड भारी, सब हो गया फानी

Thus believing the world and its things evanescent she said that there have been kings, ministers, Queens subedars and elevated persons even oceans and mountains, but all fade away in course of time. Nothing worldly remains constant.

She often quoted Lallechwari's vākhs:

संसार रूपी ता'व छय त'च'य
मूढन किच'य तावन' आये
ज्ञान मुद्रा छय यूगियन किच'य
सु यूगी यूग' कलि किज पर्ज'नाव्यस

"The red hot pan called Samsara (the world) is heated only for the ignorant. The stamp of knowledge is meant for Jñānīs, who perceive reality through the art of yoga (with earnest efforts).

About developing efficiency in doing action towards attaining freedom she quoted from the Gita:

“योगः कर्मसु कौशलम्”

'Yoga is the very dexterity of work'.

She stressed that every Hindu boy should have thread ceremony at the proper age i.e at the age of five or six when he is fit for receiving education. He should begin the day with Sandhyā Vandana and Gayatri Japa.

Talking seriously about girls she advised them to be of noble character and assimilate high qualities in themselves. On getting married they should turn to be chaste wives and should maintain the high tradition of their society. Matharā Devī touched the spiritual heights and at the same time she never deviated from healthy traditions of society.

People of sattvic nature are reported to have had experiences of 'miracles' through touch or glance of hers unawares.

(12.11.1996)

Courtesy-

SANT SAMAGAM RESEARCH INSTITUTE

37/4 Pandoka Colony, Paloura, Jammu-181121



विश्वं यदेतत्परमात्म दर्शनं
विलापयेत् आत्मनि सर्वकारणे।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्॥

The whole universe, one should merge in the cause of all things, the self, and see the entire existence as verily Brahman. Thus one abides in the self which is full and bliss itself and knows nothing external or internal.

त्रिक-मार्ग के शैवी साधकों के हितार्थ गुरुवर्य श्री ईश्वर-स्वरूप जी महाराज का आदेश

१. भगवान् के प्रति निश्चल भक्ति तथा राग का होना। राग की तीव्रता होने में विषयों के प्रति वैराग्य स्वतः होगा।
२. मानसिक पूजा को ही सर्वोपरि मानना।
३. बाह्य पूजा आदि आडम्बरों को उसी सीमा तक निभाना, जहां तक मन की सावधानता बनी रहे।
४. सदा अभ्यास-परायण रहना।
५. व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़ कर, अमूल्य समय को न खो देना।
६. भूत, भविष्यत् समय का विचार न करके सदा वर्तमान में रहकर सावधान रहना।
७. लोगों के व्यवहार में टांग न अड़ा कर, अपना अनुसन्धान बनाये रखना। यही वास्तविक यज्ञ है।
८. शैवी-ग्रन्थों का अवलोकन व मनन करते रहना।
९. शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दिन में थोड़ी देर के लिए विश्राम ले लेना। न कि रात की भांति तीन चार घंटे सोना।
१०. गुरुजनों तथा अद्वैत-शास्त्र पर अटल विश्वास तथा आदर का होना।
११. भोजन करते हुए बातें न करना। इसे भगवान् के प्रति आहुति समझकर, अति प्रेम तथा एकाग्रता-पूर्वक भोजन करना।
१२. सैर करते हुए भी किसी से वार्तालाप न करना। पांव के प्रति कदम पर ध्यान रखते हुए, मध्य-अनुसन्धान बनाये रखना।
१३. विश्व को शिव-मय देखकर किसी के प्रति राग-द्वेष का न होना।
१४. अपने मन का संतुलन बनाये रखना। मन की चेष्टाओं को देखते रहना। देखना भी अभ्यास ही है।
१५. अभ्यास करते हुए मन ऊब आये तो मानसिक जप करना। इससे अन्तःकरण शुद्ध होते हैं।

१६. सभी संतों, विद्वानों और महापुरुषों के सामने शीष झुकाना। उनमें भी अपने गुरु महाराज का ही रूप देखना। शीष झुकाने से देह-अभिमान कम हो जाता है।
१७. सभी से प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करना। स्मरण रहे सभी शरीरों में भगवान ही वास कर रहे हैं।
१८. स्वादिष्ट शुद्ध सात्विक भोजन करना। मांसाहारी न बनना। किसी भी प्राणी का वध करना घोर पाप है।
१९. मादक पदार्थों का सेवन न करना। इससे शरीर बिगड़ जायेगा और अभ्यास हो नहीं सकेगा।
२०. रात को दस बजे सोना और प्रातः चार बजे जगकर प्रभु के अभ्यास में तल्लीन बनना।
२१. यदि नेत्र बन्द करके संकल्प-विकल्प आते रहें तो नेत्र खोलकर ही अभ्यास करना। ऐसा करने से संकल्प-विकल्प रूपी चोर फटक नहीं सकेंगे।
२२. किसी के साथ भी गहन संबन्ध न बनाना। विश्व की नश्वरता का सदा स्मरण रखना।
२३. घर, गृहस्थी का पालन प्रेम से करना। इसे झंझट तथा माया का रूप न समझकर, इससे दूर रहने का संकल्प न करना। इसको निभाते हुए ही अपना अभ्यास बनाये रखना।
२४. किसी के गुण, अवगुण न देखकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा उद्यत रहना।
२५. गुरु भाइयों, गुरु बहनों से अधिक संबन्ध न जोड़कर, गुरुवर्य के उपदेशों का अनुसरण करते रहना यही सफलता की चाबी है।

सुश्री प्रभादेवी के सौजन्य से



शैव दर्शन के वातायन से

प्रो० नीलकण्ठ गुरुद्व

आश्यानीभाव— किसी भी तरल पदार्थ के जमकर स्थूल एवं सघन (ठोस) बन जाने की स्वाभाविक प्रक्रिया को संस्कृत में 'आश्यानीभाव' कहते हैं। उदाहरणार्थ जल मौलिक तरल पदार्थ ही जमने से स्थूल बर्फ का रूप धारण कर लेता है। ऐसे किसी पदार्थ के मौलिक तरल एवं आश्यानित सघन रूपों में उपरीले आकार-भेद के अतिरिक्त और कोई स्वभावगत अन्तर बिल्कुल नहीं होता है। शैव-मान्यता के अनुसार मूलभूत तरलातितरल चित्-रस (शिव-रस) ही आश्यान होकर स्थूल एवं सघन विश्वरूप में विकसित हुआ है, अतः यह स्थूल दिखने वाला विश्व भी मूलभूत तरल चित्-रस से अलग कोई दूसरा सद्भाव नहीं है प्रत्युत यह आश्यानीभूत शिव रस ही है—

‘आदावन्ते चित्-रस-रूपं, मध्ये चित्-बुद्बुदरूपम्’।

अभित्तिः— इस शब्द के दो अर्थ हैं—(१) ऐसा चित्र जिसका कोई आधार अर्थात् चित्रपट ही न हो, (२) ऐसा चित्र जिसका आधार या चित्रपट 'अ'-अर्थात् परमशिव कला हो। शैव-मान्यता यह है कि समूचा विश्वचित्र अलोकसामान्य कलाकार परमशिव के द्वारा बनाया हुआ ऐसा चित्र है जिसका कोई लोकसामान्य आधार नहीं, प्रत्युत स्वयं साक्षात् स्वच्छातिस्वच्छ परमशिव स्वरूप ही है।

अनुग्राह्य— सच्ची श्रद्धा-भक्ति एवं निजी अनथक उद्यम के द्वारा ईश्वरीय अनुग्रह का पात्र बने हुए अर्थात् सुप्रबुद्धभाव के स्तर पर पहुंचे हुए शिष्य को अनुग्राह्य कहते हैं।

एकध्य— जिस अवस्था में भगवदिच्छा से शिष्य की अप्रबुद्ध चेतना में सिद्ध गुरु की सुप्रबुद्ध चेतना का ऐसा सङ्क्रमण हो जाता है कि दोनों के अन्तर्हृदय के स्पन्दन में तिलभर का भी अंतर नहीं रहने पाता है, 'एकध्य' कही जाती है।

उपादान-संभार— साधारण लोकभूमिका पर किसी भी प्रकार के निर्माण के लिए अपेक्षित भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्रियों के अटाले को उपादान-संभार कहते हैं। संसार भूमिका पर कोई भी कार्य, अपने अपेक्षित उपादान-संभार के बिना, सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके उलट में ईश्वरीय स्तर पर विश्व की सृष्टि इत्यादि महान कृत्यों को संपन्न करने वाले परमेश्वर को, निजी इच्छाशक्ति के अतिरिक्त, और किसी कारण सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

प्रह्वीभाव— यह शब्द सारे उत्कर्षों से परिपूर्ण आराध्य देव के प्रति अपेक्षित नम्रता एवं सर्वस्व-समर्पण के भाव की अभिव्यंजना करता है।

अनन्तप्रकाश— शैव परिभाषा में सर्वव्यापी परशिवमय प्रकाश पुञ्ज को अनन्तप्रकाश की संज्ञा दी गई है। अनन्त प्रकाश से ऐसे प्रकाश का अभिप्राय है जिसको देश, काल एवं आकार की इयत्ताएं सीमित नहीं कर सकती हैं क्योंकि वे देश इत्यादि स्वयं भी उसी महान ज्योतिपुञ्ज की चिंगारियां हैं। फलतः उसी प्रकार के अभिन्न अंग होने के कारण उसी को सीमित कैसे कर सकते हैं? यदि वे भी उसी प्रकाश के साथ अभिन्न न होते तो उनका (देश इत्यादि का) अस्तित्व ही नहीं होता।

माया परिवार— मायातत्त्व, कलातत्त्व, विद्यातत्त्व, रागतत्त्व, कालतत्त्व एवं नियतितत्त्व 'माया परिवार' कहलाते हैं।

प्राधानिक सर्ग— प्रधान से मूलप्रकृति और सर्ग से सृष्टि का अभिप्राय है। फलतः प्रकृति-तत्त्व से लेकर नीचे पृथिवी-तत्त्व तक के सृष्टि विस्तार को प्राधानिक-सर्ग कहा जाता है।

जगत्— 'गच्छति तत् तत् अवस्था वैचित्र्यम् इति जगत्'—तात्पर्य यह कि जो पग-पग एवं पल-पल भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्थाओं की विचित्रताओं का विषय बन जाता है, 'जगत्' कहलाता है।

महाशून्य— शैव परिभाषा में अनाश्रित शिव के स्तर को महाशून्य अथवा शून्यातिशून्य पद कहते हैं। यह शिव के अवरोह का वह स्तर है जहां वह पूर्णशिवभाव से च्युत होने के कारण शिव भी नहीं, और दूसरी ओर अभी जगत् भी न होने के कारण जगत् भी नहीं रहता है। फलतः दोनों से च्युत होने के कारण शून्यातिशून्य पद कहलाता है।

षट्-प्रमाण— भारतीय तर्कशास्त्र में छः प्रमाणों के आधार पर किसी तथ्य का निर्धारण किया जाता है। छः प्रमाण इस प्रकार हैं—'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव।

षडानन्द भूमिकाः— साधना ग्रन्थों में छः आनन्द भूमिकाओं का वर्णन किया गया है। इनके नाम हैं—निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द। परन्तु सिद्ध गुरुओं के कथानानुसार ये उल्लिखित आनन्दभूमिकाएं अधूरी हैं क्योंकि इनमें जगत्-पक्ष का बहिष्कार किया गया है। अतः एक और इनसे उत्कृष्ट जगदानन्द नाम वाली आनन्द भूमिका ही सच्ची आनन्द भूमिका है। उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

षडर्धशास्त्र— प्राचीन तन्त्रयुग के लेखकों में बहुधा बातों को कूट रूप में प्रस्तुत करने की शैली प्रचलित थी। उस शैली के अनुसार त्रिकशास्त्र के लेखकों ने अपने शास्त्र (त्रिक) को, 'षट्+अर्ध'=अर्थात् छः का आधा त्रिक=त्रिकशास्त्र' इस कूट रीति में प्रस्तुत किया है।

भेदावभास-स्वातन्त्र्य— परमेश्वर में अनन्त प्रकार के स्वातन्त्र्य भरे हुए हैं। जहां उनमें अभेद प्रतिपत्ति का स्वातन्त्र्य है वहीं संसारभाव के लिए अपेक्षित भेदभाव को उपजाने का स्वातन्त्र्य भी है। इसी स्वातन्त्र्य का नाम मायाशक्ति है।

जीवना— जीवना का दूसरा पारिभाषिक नाम प्राणना है। प्राणना अथवा जीवना हरेक प्राणी में वर्तमान श्वास-प्रश्वास के स्थूल रूप वाली प्राणशक्ति के मौलिक सूक्ष्म रूप को कहते हैं। शैव मान्यता के अनुसार जड़-चेतन पदार्थों की सृष्टि करने से पहले ही भगवती संवित्-शक्ति ने स्वस्वरूप को ही सूक्ष्म प्राणना के रूप में आभासित किया—'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'। दूसरे स्तर पर उसी सूक्ष्म प्राणना को स्थूल श्वास-प्रश्वास के रूप में आभासित करके सारे पदार्थों के जीवन तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया—'प्राणापानमयः प्राणः प्रत्येकं सुप्तजाग्रतोः' इत्यादि।



तन्त्र साहित्य में उल्लेख है कि सद्गुरु जन्मोत्सव पर गुरु-पादुका की पूजा का विशेष महत्व है क्योंकि भिन्न-भिन्न पुण्य कालों पर, अथवा महोत्सवों पर अर्जित साधनाओं का पुण्य फल इस पूजा में सम्मिलित होने से अनायास उनको प्राप्त होता है जो इस पूजा में भागीदार होते हैं।

आइये हम सब गुरु-पादुका-पूजा में सम्मिलित होवें।

भगवद्गीतार्थ संग्रह पर एक विहंगम दृष्टि

—सुश्री प्रभादेवी

(गतांक से आगे)

पिछली नव अध्यायों में जिस विषय को लेकर बात छोड़ी है उसी को इस दसवीं अध्याय में भिन्न-भिन्न रूप से पुनः दोहराते हैं। इसी लिए तो भगवान इस अध्याय के प्रथम श्लोक में कहते हैं 'भूय एव' फिर वही पहिले कही हुई बात को खोल कर फिर से सुनो। अर्जुन भी तो इसी भांति आगे कहते हैं- "भूयः कथय" इति— मुझे फिर वही बात दोहराइये।

इस दसवीं अध्याय में भगवान् ने अपने विभूतियोग का वर्णन किया है। यदि सच्चा साधक अभ्यास परायण होकर इस अध्याय का पाठ-मात्र ही करे तो उसे एकाग्रता का फल अवश्य मिलेगा। ऐसा हमारे आराध्य देव गुरुदेव कह गये हैं।

संग्रहश्लोक यह है:—

इच्छायामिन्द्रिये वापि
यदेवायाति गोचरम्।
हठाद्विलापयंस्तत्तत्प्रशान्तं
ब्रह्म भावयेत्॥ १०॥

जो भी विषय दृष्टि-पथ में आये, वह भले ही संकल्प में या इन्द्रिय में ही क्यों न ठहरा हो, उसे प्रयत्न-पूर्वक लीन करते हुए, संकल्प-विकल्प से रहित ब्रह्म की ही भावना करनी चाहिये।

जो विषय दसवीं अध्याय में कहा गया उसी को स्फुट रूप में देखने के लिए अर्जुन पूछते हैं। जो भी उपदेश रूप में अर्थ जाना है, वह संविद् की पकड़ में आकर ही स्फुट बनता है। इसी प्रयोजन से प्रश्न तथा उत्तर का रूप देकर ग्यारहवीं अध्याय का सृजन हुआ है।

इस 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवीं अध्याय का अन्तिम श्लोक पढ़ें—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥

हे अर्जुन! जो साधक केवल मुझे मिलने के लिए निष्काम कर्म करता रहे, मेरा भक्त हो, किसी के साथ भी आसक्ति को छोड़ बैठा हो, सभी प्राणियों में वैर की भावना से रहित हो, वही (स्थितप्रज्ञ) मुझे प्राप्त करता है।

जिन साधकों की भक्ति, स्त्री पुत्र आदि के मोह से रहित केवलमात्र मेरे परायण रहने से विकसित बनी होती है, उनके लिए तो 'मां प्रपद्यते' 'वासुदेवः सर्वम्'—मेरे ही शरण में आने से, वासुदेवः—प्रति प्राणि में वास करने वाला प्रभु ही सब कुछ है, इस प्रकार के पहिले कहे हुए उपदेश से विश्वाकार वासुदेव का स्वरूप सहज में ही विमर्शात्मक बोध में ही परिणत हो जाता है। ऐसा अभिनवगुप्त जी कहते हैं।

संग्रहश्लोक यह रहा—

शुद्धाशुद्धविमिश्रोत्थसंविदैक्यविमर्शनात्।
भूर्भुवःस्वस्त्रयं पश्यन्समत्वेन समो मुनिः॥ ११॥

शुद्ध-प्रमातृ, अशुद्ध-प्रमेय, शुद्धाशुद्ध प्रमाण—इन तीनों को प्रमिति रूप से जानने पर, मुनि-साधक भूलोक-जाग्रत, भुवः लोक स्वप्न, स्वः लोक-सुषुप्ति अवस्थाओं को तुरीय रूप साम्य में देखता हुआ साम्य रूप ही बनता है।

ऊपर वर्णित श्लोक में अन्य मतावलम्बियों की भांति भू, भुवः, स्वः लोक को भूल-भुलैयों के चक्र में भ्रमित न करके जीव के निकट ही ठहरे हुए जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का रूप कहा है। हमारे गुरुदेव श्री ईश्वर-स्वरूप जी भी कहा करते थे—“जो अंड में सो पिंड में”। जो भी कुछ ब्रह्मांड में अवस्थित है, वह सभी मानव के शरीर में ही है। अतः इस मानव-शरीर का सदुपयोग करना चाहिये।

अब 'भक्तियोग' नाम वाले बारहवीं अध्याय का अन्तिम श्लोक देखें—

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

अब जो मुझमें लगे हुए श्रद्धा वाले साधक इस ऊपर कहे हुए धर्म रूप अमृत को भली-भांति अपनाते हैं, वे आराधक भक्त मुझे बहुत ही प्यारे हैं।

इस अध्याय का संग्रहश्लोक यह है—

परमानन्दवैवश्यसञ्जातावेश संपदः।
स्वयं सर्वास्ववस्थासु ब्रह्मसत्ता ह्यत्यन्तः॥ १२॥

(जिस योगी को) परम आनन्द से बेबस होकर, भावावेश का धन मिला हो, उसे स्वयं सभी अवस्थाओं में रहकर, ब्रह्म की सत्ता सहज-अनायास ही प्राप्त होती है।

सच मानिये निष्कपट रूप से साधना करने पर यह अनुभव साधक को गुरु-कृपा से स्वतः हो जाता है।

अब “क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग” नाम वाले तेरहवें अध्याय में अर्जुन ने भगवान् से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में पूछा। भगवान् वासुदेव ने ३३ श्लोकों में इन दोनों का विस्तार-पूर्वक निर्णय किया। अन्तिम श्लोक यह कहा—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३॥

इस प्रकार शरीर और आत्मा के भेद को और पांचमहाभूत तथा प्रकृति से छूटने के उपाय को जो साधक ज्ञान-नेत्रों से जानते हैं, वे पर-ब्रह्म परमात्मा को पाते हैं—ईश्वर का दर्शन करते हैं।

संग्रहश्लोक यह है:—

पुमान्प्रकृतिरित्येष भेदः संमूढचेतसाम्।

परिपूर्णास्तु मन्यन्ते निर्मलात्ममयं जगत्॥ १३॥

‘यह पुरुष है—यह प्रकृति है’ इस प्रकार की भेद बुद्धि मूर्खों में होती है। आसकाम ज्ञानी जन तो जगत् को निर्मल स्वात्म-स्वरूप से युक्त मानते हैं—अनुभव करते हैं।

इस श्लोक में भगवान् अभिनव जी ने सांख्य वादियों को आड़े हाथों लिया है। सभ्य भाषा में उनके सिद्धान्त को ‘संमूढ’ पद से कहकर बात टाल दी है।

चौदहवीं अध्याय का विषय ‘गुणत्रय’ को लेकर है। सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण तीनों ही इस देहधारी को अपने पाश में बांध लेते हैं। इनसे छूटना ही मोक्ष है। निम्न श्लोक इसी कथन की पुष्टि करता है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

अविनाशी प्रभु, अमृत, सनातन धर्म और अखण्ड एक रस आत्म-सुख का, मैं (अहम्) पूर्ण परब्रह्म ही आश्रय हूँ।

संग्रहश्लोक यह है:-

लसद्भक्तिरसावेशहीनाहंकारविभ्रमः।

स्थितेऽपि गुणसंमर्दे गुणातीतः समो यतिः॥ १४॥

भक्ति-रस के आवेश से शोभित होने के फल-स्वरूप, जिसका अहंकार रूप भ्रम दूर हो गया हो, वह साधक, गुणों के संघर्ष में रहते हुए भी गुणातीत हैं। समभाव में स्थित है। संन्यासी-जितेंद्रिय है।

‘पुरुषोत्तमयोग’ नामक पंद्रहवीं अध्याय के १९वें श्लोक में भगवान् वासुदेव अर्जुन से कहते हैं-

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

हे अर्जुन इस प्रकार (तात्त्विक रूप से जो ज्ञानीजन व्यापक जान कर सभी वस्तुओं में) मुझ पुरुषों में उत्तम परमात्मा को जानता है, वह सर्वज्ञ साधक मूर्ति, क्रिया और ज्ञान से मुझे ही स्मरण करता है।

भगवान् वासुदेव के इस कथन की पुष्टि में श्री अभिनव जी ने भी अपने ‘शिव-शक्ति-अविनाभाव’ स्तोत्र में त्रिकसिद्धान्त का दिग्दर्शन कितने सुन्दर शब्दों में किया है। देखिये-

‘तव च काचन न स्तुतिरम्बिके

सकलशब्दमयी किल ते तनुः।

निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो

मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च॥

इति विचिन्त्य शिवे शमिता शिवे

जगति जातमयत्नवशादिदम्।

स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता

न खलु काचन कालकलापि मे॥”

हे माता! आप का वास्तविक स्वरूप तो सभी शब्दों से परिपूर्ण है फिर भला आप की स्तुति कौन नहीं करता है। (मैं जो कुछ भी सारा दिन बोलता हूँ वह तो आप का ही गुणानुवाद करता हूँ।) मुझे तो संसार की सभी मूर्तियों में आप का ही पर-संबन्ध, मन में उत्पन्न हुए संकल्पों में तथा बाहिर फैले हुए पदार्थों में दिखाई देता है। ऐसा विचार कर

हे अशुभों को दूर भगाने वाली पार्वती! जगत में मुझे तो बिना यत्न के, किसी काल का एक निमेष (क्षण) भी आप की स्तुति, जप और चिन्तन के बिना नहीं बीतता।

इस अध्याय का संग्रहश्लोक यह रहा:—

हत्वा द्वैतमहामोहं कृत्वा ब्रह्ममयीं चितिम्।
लौकिके व्यवहारेऽपि मुनिर्नित्यं समाविशेत्॥ १५॥

भेद के भयंकर अंधेरे को हटाकर और अपनी संवित्ति को ब्रह्ममय बनाकर, मनन परायण योगी, लौकिक व्यवहार में भी ईश्वर के समावेश से युक्त होता है।

‘दैवासुरसंपद्विभाग’ नाम वाले सोलहवीं अध्याय में भगवान् वासुदेव विशद् रूप से दैवीसंपदा तथा आसुरी विपदा का निर्णय करते हुए इस अध्याय के पांचवें श्लोक में स्पष्ट कहते हैं:—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव!॥ ५॥

हे अर्जुन! दिव्य संपदा तो संसार से छूटने के लिए और राक्षसी (रजोगुणी) और तमोगुणी संपदा तो संसार में बांधने के लिए मानी गई हैं। तुम शोक मत करो। तुम तो दैवी (अलौकिक) संपदा को प्राप्त किए हुए हो।

फिर आगे २४वें श्लोक में शास्त्र की महत्ता का बखान करते हुए कहते हैं:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ १६॥

इसलिए तुम्हें इस कर्तव्य और अकर्तव्य के चुनाव करने में शास्त्र ही निश्चायक है। ऐसा जानकर तुम शास्त्र-विधि से निश्चित किये हुए कर्म करने के लिए योग्य हो।

अभिनव जी इस आदेश की पुष्टि निम्न संग्रहश्लोक से करते हैं:—

अबोधे स्वात्मबुद्ध्यैव कार्यं नैव विचारयेत्।
किंतु शास्त्रोक्तविधिना शास्त्रं बोधविवर्धनम्॥ १६॥

अज्ञान दशा में, अपनी (अल्प) बुद्धि से (पुण्य और पाप रूप) कार्य का विचार कभी नहीं करना चाहिये। किंतु शास्त्र में कही गई रीति के अनुसार ही कार्य करना चाहिये, क्योंकि शास्त्र-ज्ञान ही जीव की बुद्धि का विकास करता है।

सतरहवीं अध्याय का नाम, भगवान् व्यास ने 'श्रद्धात्रयविभागयोग' रक्खा है। इस अध्याय में तीन गुणों से युक्त श्रद्धा का विभागपूर्वक निर्णय किया है। इस अध्याय का २८वां अन्तिम श्लोक यह है:-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के होमा हुआ यज्ञ (तथा) दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो भी किया हुआ कर्म है, वह सभी निष्फल बनता है। ऐसे कहा जाता है। अतः वह न तो इस लोक में और न ही मरने के बाद परलोक में ही लाभदायक होता है।

इस अध्याय का संग्रहश्लोक यह है-

स एव कारकावेशः क्रिया सैवाविशेषिणी।
तथापि विज्ञानवतां मोक्षार्थं पर्यवस्यति॥ १७॥

यद्यपि ज्ञानी और सांसारिक व्यक्तियों को कर्मों के प्रति अनुरक्ति एक समान ही होती है और क्रियाओं में भी कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु फिर भी ज्ञानवानों के लिए वे सभी कर्म (अनासक्त होकर करने के कारण) मोक्ष ही दिलाता है।

इस अन्तिम अठारहवीं अध्याय में अर्जुन, भगवान् कृष्ण से कई प्रश्न करते हैं और उनका उत्तर भगवान् विस्तार पूर्वक देते हैं। इसी अध्याय का ६१वां श्लोक कितना व्यापक और तथ्य सिद्धांत को दर्शाता है:-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदये वसतेऽर्जुन।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

हे अर्जुन! यह ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रह रहा है। शरीर रूपी यन्त्र पर सवार होकर सभी प्राणियों को अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से नचाता हुआ (जन्म-मरण में घुमाता हुआ) स्वरूप में ठहरा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
मत्प्रसादात्परां सिद्धिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

हे अर्जुन! पूर्ण रूप से उस परमात्मा का ही आश्रय लो। (इस प्रकार अनन्य शरण लेने से) मेरे अनुग्रह से तुम पर-सिद्धि रूप सनातन मोक्ष-धाम को प्राप्त करोगे।

आगे ६५ वें श्लोक में स्पष्ट कहते हैं:-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

(हे अर्जुन तुम इसलिए) मुझमें ही प्रेमपूर्वक मन लगाने वाला बनो। मेरा भक्त बनो। मेरी पूजा करने वाला बनो) मुझे नमस्कार करो-मेरे आदेश के सामने झुको। ऐसा करने से तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं यह तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सभी कर्तव्य और अकर्तव्य कर्म की परिधि को छोड़ कर केवल मेरा ही पल्ला पकड़ो। ऐसा करने पर मैं तुम्हें सभी पापों से छुटकारा दिला दूंगा। अतः शोक मत करो।

इस अध्याय का ७८ वां श्लोक मानो सम्पूर्ण गीता का सार है। पढ़िये-

यत्र योगीश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

जहां योगियों के ईश्वर भगवान् कृष्ण हैं और जहां गांडीव धनुषधारी अर्जुन हैं वहां तो मोक्ष-लक्ष्मी, विजय, परिपूर्ण ऐश्वर्य (तथा) अटल शालीनता-बुद्धिमत्ता सदा रहती है। ऐसा मेरा सिद्धान्त है।

स्मरण रहे जहां (कृष्ण) बुद्धि और (अर्जुन) बाहुबल दोनों का अकाट्य संबन्ध रहे वहां सभी विभूतियां आ उपस्थित होती हैं।

इस अध्याय का संग्रहश्लोक कितना सार-गर्भित और अनुभव की कसौटी पर परखा गया है। इसको ध्यान से पढ़ें:-

भङ्क्वा ज्ञानविमोहमन्थरमयीं
सत्त्वादिभिन्नां धियं
प्राप्य स्वात्मविभूतिसुन्दरतया
विष्णुं विकल्पातिगम्।
यत्किञ्चित्स्वरसोद्यदिन्द्रिय

निजव्यापारमात्रस्थिते
 हँलातः कुरुते तदस्य सकलं
 संपद्यते शंकरम्॥ १८॥

ज्ञान और अज्ञान रूप मोह से मन्द बनी हुई तथा सत्त्व आदि गुणों से भिन्नता को प्राप्त हुई बुद्धि को काटकर-दूर करके तथा स्वात्म-अनुभूति से सुशोभित बने हुए विकल्पों से रहित विष्णु भगवान् को प्राप्त करने के बाद, जिस किसी भी व्यवहार से इन्द्रियों को अपने अपने कार्यों में स्वाभाविक रूप से तथा क्रीड़ा मानकर प्रवर्तित होने देना है, वह सभी उस पुरुष के लिए शंकर का रूप ही दिखता है—उसे यह सभी जगत का व्यवहार शिवमय ही दीखता है।

अन्त में हम तो यही कहेंगे कि मुमुक्षुओं और साधकों के हितार्थ ही गीता जी का सृजन हुआ है। यह केवल श्लोक पढ़ने मात्र का ही विषय नहीं है और न ही पिंडदान के समय मुक्त-कंठ से पढ़ने मात्र का विषय है। यह तो जीवन के प्रत्येक सुख-दुःखादि मोड़ पर इन उपदेशों को जीवन में घटाने का कल्याणमय उपदेश है। सभी 'मालिनी' के पढ़ने वालों से प्रार्थना है—वे यदि गीता जी का अध्ययन विस्तृत होने के कारण न भी कर सकें तो भी वे श्री अभिनव गुप्त जी के इन अठारह श्लोकों को कंठस्थ करें। इनके अर्थ को जीवन में घटा कर गुरु-सेवा का आनन्दप्रद सुफल प्राप्त करें।

जय गुरुदेव



काश्मीर—शैवदर्शन पर कविराज जी के विचार

— डा० नवजीवन रस्तोगी

(प्रचार्य एवं अध्यक्ष दर्शन-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

इस पत्र का सम्बन्ध काश्मीर—शैवदर्शन के क्षेत्र में किए गए महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी के अवदान से है। भारतीय दर्शन सामान्यतः और काश्मीर शैवदर्शन विशेषतः, जीवन और अस्तित्व के केन्द्रीय अर्थ के ज्ञान की अपेक्षा उसकी उपलब्धि के प्रति समर्पित रहा है अतः उसकी प्रकृति साधनामूला अधिक रही है—नैषा मतिः तर्केणापनीया। अतः तर्कप्रतिष्ठ रूप में साधनाप्राण चिन्तन का रूप स्थिर करना मेरे लिए जहां एक आनन्दप्रद अध्यवसाय रहा है वहीं मुझे अपनी असामर्थ्य के लिए लगातार झकझोरता भी रहा है।

कविराज जी की शैली की एक विशेषता है—वह विशेषता दर्शन के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा बद्धमूल विश्वास का साक्षात् फल है—कि वे दर्शनविशेष की चर्चा करते हुए भी व्यापकतर संदर्भ में ही उसका विवेचन करते हैं। सच बात तो यह है वे भारतीय दर्शन को एक मानते हैं और सारी दार्शनिक परम्पराओं और संप्रदायों में उसी केन्द्रीय अर्थ की अन्विति मात्रा-भेद और अभिव्यक्ति-भेद से पाते हैं। लगता है यह दृष्टि उन्हें त्रिक आचार्यों की परम्परा से अव्याहत प्राप्त हुई है। क्षेमराज ने अपने प्रत्यभिज्ञाहृदय में सारे दर्शनों में परस्पर मौलिक भेद न मानकर सोपानगत या अवस्थागत भेद माना है और उन्हें परमतत्त्व की भूमिका-भेद के रूप में ग्रहण किया है—“तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः” (प्रह० सू० ८)। यह समग्रतावादी दृष्टि दो प्रकार से कार्यरत हुई है। एक ओर, यह साधना और दर्शन का पारस्पर्य और सामनन्तर्य स्थापित करती है और दूसरी ओर, संबद्ध दर्शन का व्यापकतर संदर्भ में तुलनात्मक प्रत्यभिज्ञान कराती है। दूसरे अंश के उदाहरण के लिए सूफी सम्प्रदाय और ईसाई रहस्यवाद के संदर्भ में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विचार तथा वज्रयान और सहजयान के परिप्रेक्ष्य में शाक्तदर्शन का विचार लिया जा सकता है। इस पद्धति का सहज लाभ यह हुआ है कि सिद्धान्त बोध के प्रसंग में अनेक अब तक अबूझ पहेलियां निरायास उजागर हो उठी हैं। पर इनसे एक हानि भी होती है कि संबद्ध दर्शन का निजी वैशिष्ट्य कुछ विगलित हो जाता है और उसको उसके ऐकान्तिक स्वरूप में प्रस्तुत करना उतना आसान नहीं रहता।

इस पीठिकाबन्ध (reservation) के साथ अब विषय पर आना उचित होगा।

काश्मीरी शैव दर्शन का अर्थ काफी व्यापक है और एक हद तक उसी अर्थवत्ता भौगोलिक है। उसकी परिधि में शैव दर्शन की द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत परम्पराएं सहज ही आती हैं। परन्तु यहां पर हम अपने को उसी अर्थ तक सीमित रखेंगे जिस अर्थ में कविराज जी ने इसे लिया है वह अर्थ है प्रत्यभिज्ञा-दर्शन या प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द का युग्म, दूसरे शब्दों में काश्मीर की ईश्वरद्वयवादी या शिवाद्वयवादी परम्परा। कविराज जी की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा न्याय आदि की भांति एक सिद्धान्त विशेष नहीं हैं। बल्कि एक विशिष्ट चिन्तनसरणि है जिसका उन्मेष काश्मीर शिवाद्वयवाद की बहुविध परम्पराओं में हुआ है। कविराज जी की दृष्टि में यह भारतीय विचार-साम्राज्य की एक अति प्राचीन दुर्लभ सम्पदा है और गौडीय वैष्णवों के अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त की तरह भारतीय साधना का महत्वपूर्ण गौरव-स्तम्भ है। इस दर्शन पर जो विचार हम करने जा रहे हैं उस सम्बन्ध में दो बातें याद रखनी आवश्यक हैं। प्रथम, भारतीय संस्कृति की दो अंतर्धाराएँ हैं—वैदिक तथा तांत्रिक। इन्हें क्रमशः वैदिक और तांत्रिक संस्कृतियों की अभिधा भी दी जा सकती है। काश्मीर शैव दर्शन तांत्रिक अंतर्धारा का उत्स है। अतः इसके रूपायन में तांत्रिक संस्कृति और फलतः उसकी विचार-पद्धति की सारी विशेषताएँ अंतर्भुक्त हुई हैं। द्वितीय, काश्मीर दृक्वादियों की पूरक विचार धारा है शाक्तदर्शन परम्परा। इस बात का संकेतन सोमानंद शाक्ताद्वैत की आलोचना करते समय “स्वयूथ्यानद्वयवादिनः प्रतीदानीमारंभः” कहकर कर चुके हैं। अतः काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल धारणाओं के विवेचन में शैव और शाक्त अद्वय-प्रस्थानों की शास्त्रीय सामग्री का उपयोग कविराज जी ने किया है।

कविराज जी का बहुत सा साहित्य प्रकाश में आना शेष है और बहुत सा इधर-उधर बिखरा हुआ है। जहां तक संभव था, लगभग सभी उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है। फिर भी जो सामग्री छूट गयी है उससे विवेचन के विस्तार पर संभव है असर पड़े, परन्तु मूल स्थापनाओं में परिवर्तन की संभावना बहुत अधिक नहीं जान पड़ती।

कविराज जी त्रिक दर्शन को अत्यन्त कट्टर अद्वैतवादी मानते हैं। इस कट्टरता को तीन प्रकार से समझाया गया है—शून्यवाद आदि समकक्ष कठोर अद्वयवाद के उल्लेख के द्वारा, अद्वयता के तात्त्विक विवेचन द्वारा और गौडपाद तथा शंकर के ब्रह्माद्वयवाद की तुलना द्वारा। हम पहली को छोड़ते हैं। अद्वयता की व्याख्या पूर्णता या सामरस्य की शब्दावली में की गयी है। दोनों प्रत्ययों का लक्ष्यार्थ यद्यपि एक है तथापि उनके अभिधार्थ में सूक्ष्म अंतर है। पूर्णता मूल तत्त्व के अखण्ड आत्म-सामर्थ्य का बोधक प्रत्यय है और सामरस्य उसके विरोधपरिहारात्मक स्वरूपावस्थान का। जागतिक खण्ड-सत्ताओं के मूल में जिस अखण्ड महासत्ता की भावना की गयी है उसे परमशिव का नाम दिया गया है। परमशिव

जो विशुद्ध अद्वय तत्त्व है को समझाने के लिए दो समीकरणों का प्रयोग किया गया है। इनमें से एक है प्रकाश-विमर्शमयता का समीकरण और दूसरा है सत् चित् आनंद का। दोनों समीकरण परस्पर परिवर्तनीय समीकरण हैं—प्रकाश=सत्+चित्, विमर्श+चित्+आनंद। चित् की दोनों में अवस्थिति सत् के चैतन्य स्वभाव का संकेतन करती है। यह आचार्य उत्पल की मान्यता का अनुवाद है जब वह विमर्श को प्रकाश का स्वभाव कहते हैं। सीधे सादे शब्दों में परम तत्त्व के अद्वय स्वभाव की व्याख्या का एक मात्र उपकरण है, उसे न केवल प्रकाशस्वरूप बल्कि स्वप्रकाश मानना और स्वप्रकाशता को चैतन्यात्मक मानना। प्रकाश और विमर्श को शिव और शक्ति के नाम से भी पुकारा गया है। शिव को अखण्ड स्वप्रकाश और शक्ति को उस प्रकाश की आत्मविश्रान्ति कहकर आत्मनिर्भरता (Self containment) की धारणा, जो पूर्णता को समझाने का एक और प्रयास है, को स्पष्ट किया गया है। परम तत्त्व का स्वप्रकाशन स्वरूपभूत शक्ति या स्वातन्त्र्य से ही सम्भव है। इस स्वातन्त्र्य के प्रभाव से वह एक, अद्वितीय रहते हुए भी अपनी मूल सत्ता के आधार पर द्वितीय का स्फुरण कर सकता है। यह स्वातन्त्र्य ही अनन्त प्रकार के विरोधों के समन्वय का द्वार है। शक्ति के प्रति प्रसरण में एक ओर उसका आश्रय और दूसरी ओर उसके विषय की विभक्त सत्ता एवं मध्य में दोनों का संयोजक सेतुरूपी सम्बन्ध अभिव्यक्त होता है। क्षेमराज का यह मन्तव्य कि स्वातन्त्र्य ही ब्रह्मवाद से प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अलग करता है, शास्त्र की आन्तरिक संगति से पुष्ट जान पड़ता है।

सच पूछा जाए तो सत् के जिस स्वरूप का यहां उन्मेष होता है वह गतिशील सत् है जो आत्म-सामर्थ्य से ही सक्रिय होता है और इस सक्रियता को चिन्मय या संविन्मय माना गया है। इसलिए आगम ग्रन्थों में अचिद्रूपा शक्ति की विशेष आलोचना हुई है। 'यह शिव से अभिन्न है' कहने का अर्थ है सत् की आत्मनिष्ठ भवनसामर्थ्य। इसका परिणाम नहीं होता, परन्तु प्रसार तथा संकोच होता है। इसलिए इसे स्पन्दात्मक कहा गया है। इसीलिए परम प्रकाश, परम शिव या परम सत् कभी भी निष्क्रिय नहीं माना जाता। उस परम प्रकाश को सत् मानने पर उसमें भवनाख्य क्रिया माननी पड़ती है और उसे उस क्रिया का कर्ता मानना पड़ता है। इसी भवन क्रिया का पारिभाषिक नाम है स्फुरण या विमर्श।

प्रकाश की इसी गतिसामर्थ्य या स्पन्दमयता को तांत्रिक शब्दावली में कृत्यकारित्व कहा गया है। काश्मीर शैव दर्शन में आगे चलकर कार्यकारणभाव का कर्तृकर्मभाव के रूप में उन्मेष इसी का यौक्तिक प्रतिफलन है। चिद्रूपाशक्ति की दो अवस्थाएं हैं। सृष्टि, संहार इत्यादि वस्तुतः इस शक्ति की क्रीडा से निर्गत होते हैं। यह सतत क्रियाशील है। एक ओर इसकी क्रियाशीलता आत्म-तिरोधान या गोपन के रूप में व्यक्त होती हुई अब तक

आत्मलीन विश्व की सृष्टि करती है और दूसरी ओर आत्माभिव्यंजन या अनुग्रह के रूप में व्यक्त होती हुई उस विश्व का संहार और सत् में उसका विलय करती है। विश्व की स्थिति सृष्टि और संहार के बीच की स्थिति है। काल, देश और कारणता से उत्तीर्ण आत्मा के काल-प्रवाह में पड़ने के लिए किसी युक्तिसंगत हेतु की खोज करने पर शाक्त दृष्टि से पूर्णसत्ता का स्वेच्छाकृत आत्मसंकोच ही यथार्थ समाधान है। आत्मसंकोच ही तिरोधान कहलाता है। पहले आत्मसंकोच हुए बिना सृष्टि की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि संकोचहीन आत्मा का देह-सम्बन्ध नहीं होता। तिरोधान रूप संकोच की निवृत्ति होती है अनुग्रह से। अभेद में जो भेद का आभासन होता है, उसी का नाम तिरोधान है। फिर अखण्ड प्रकाश के साथ जो एकात्मरूप में प्रकाशन है, वही अनुग्रह है। यही शक्ति का संकोच और प्रसार है। इससे स्पष्ट है कि पंचकृत्यकारित्व स्वातन्त्र्य का नामान्तर मात्र है।

संवित् निर्मल दर्पण की भांति है जिसमें पारदर्शक माध्यम में प्रतिबिम्बित प्रतिमा की तरह यह विश्व भासता है। जैसे प्रतिबिम्ब (image) दर्पण से अतिरिक्त/भिन्न नहीं है, विश्व भी संवित् से पृथक् नहीं किया जा सकता। परन्तु इस तुलना को इसके आगे ले जाना अनुचित होगा। दर्पण एक वस्तु को प्रतिबिम्बित करता है किन्तु संवित् अपनी पूर्णता में, सर्जनशील होने के कारण, अपने से बाहर किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करती। यह भवन-सामर्थ्य (actualization) या शक्ति-स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार परम शिव या पूर्ण सत् के अंदर प्रतिबिम्बित विश्व के प्रकार अनन्त हैं किन्तु सत्ता और चित्क्रिया की अत्रुटित एकता के रूप में संवित् का स्वरूप सदा एक सा बना रहता है। सत् (reality) परम सत्ता (Universal-Being) के रूप में अभिन्न हैं, परन्तु इसके विशिष्ट रूप अनेक हैं, जैसे कि दर्पण एक है परन्तु उसमें प्रतिबिम्बित प्रतिमाएं अनेक। एक अनेक हो जाता है, किसी बाह्य तत्त्व के दबाव में नहीं, बल्कि अपनी आत्मीय गतिसत्ता के कारण। इसी के प्रभाव में गति (motion) का प्रारम्भ और विविधता (multiplicity) का विकास होता प्रतीत होने लगता है। इसी कारण सृष्टि आदि और उसके अनन्त प्रकारों के उद्भूत होने पर भी सत् अपनी एकता बनाए रखता है।

इस प्रकार हमारे विचारार्थ तीन संभावित स्थितियां हैं।

1. केवल संवित्, किन्तु जिसमें विश्व भासमान नहीं = चित् (=प्रकाश)
2. संवित् तथा तदन्तः भासमान विश्व (बाह्य प्रक्षेपण का अभाव)=आनन्द (=स्वातन्त्र्य)
3. संवित् अंतः भासमान विश्व और उसका बाह्य प्रक्षेपण=इच्छा (=चमत्कार या क्रीडा)

प्रत्येक स्थिति में संवित् खुद एक और वैसी ही रहती है, उसमें जरा सा भी अंतर नहीं आता। अतः इसे निर्-विकल्प-विकल्प और विकारों से मुक्त कहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं की तुलना से प्रतीत होगा कि पहली उस स्थिति की परिचायक है जिसमें किसी भी प्रकार का आभासन नहीं है, न बाहर न अंदर। दूसरी आंतरिक, न कि बाह्य, आभासन की स्थिति है। और तीसरी अवस्था, जो कि इच्छा की है, का अर्थ है बाह्य प्रक्षेपण या बाह्य आभासन। वस्तुतः पूर्ण होने के नाते संवित् के बाहर कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि तथाकथित बाह्यता भी वस्तुतः उसके बाहर नहीं है।

प्रश्न है कि निर्विकल्प संवित् से विकल्परूपा सृष्टि का आविर्भाव कैसे होता है। उत्तर है संवित् की क्रिया शक्ति या स्वातन्त्र्य से, यद्यपि सृष्टि आभासमात्र है और उसकी बाह्यता भी आभासरूप है। विश्व इस शक्ति में अन्तर्भूत है और शक्ति परमशिव में। जब शक्ति निष्क्रिय या सुप्त होती है तब विमर्श प्रकाश में विगलित माना जाता है (अन्तर्लीन-विमर्श)। तंत्रों की भाषा में शिव शव होता है। और जब शक्ति जाग्रत होती है, जैसी कि वह सर्वदा है, परमचित् आत्मपरामर्शमयी होती है। परम सत् का यह आत्म-परामर्श 'अहं' या 'मैं' के रूप में प्रस्फुटित होता है जिसे 'पूर्ण' कहा जाता है क्योंकि इसके बाहर कुछ भी नहीं रहता जो 'इदं' के रूप में उसका प्रतियोगी बन सके। आगम की पारिभाषिक शब्दावली में यह पूर्णाहंता है। अहं की पूर्णता का अर्थ है दर्पण की भांति इसमें प्रतिबिम्बित समग्र विश्व की विद्यमानता। तब विश्व अहं से एकरूप होता है।

जैसा कि कहा जा चुका है संवित् प्रकाश भी है और विमर्श भी, यह विश्व से परे है (विश्वोत्तीर्ण) और उसमें व्याप्त भी (विश्वमय)। दोनों मिलकर एक समग्र पूर्ण की रचना करते हैं। तंत्रों में इसे 'अहं' पद से प्रस्तुत किया गया है जहां 'अ' प्रकाश का प्रतीक है, 'ह' विमर्श का और 'बिन्दु' उनके सामरस्य का।

सामरस्य शब्द का प्रयोग अद्वैत की प्रकृति को समझाने के लिए हुआ है। सामरस्य का अर्थ है एक का दूसरे में विगलन होकर एकरूपता का आपादन। पूर्ण सत् में शिव-शक्ति, प्रकाश-विमर्श तथा सत्ता-भवन का सामरस्य रहता है। पूर्णत्व का अर्थ है शिव-शक्ति सामरस्य। पूर्ण सत्य को स्वातन्त्र्यमय अखण्ड प्रकाश के सिवा किसी दूसरी तरह से नहीं कहा जा सकता। शिव अखण्ड अविभक्त प्रकाश है और शक्ति उस प्रकाश की आत्मविश्रान्ति अर्थात् अपने को पहचानना है। शुद्ध शिवावस्था में प्रकाश मात्र रहता है, शक्ति के साथ योग न होने के कारण यह विश्वातीत स्थिति है। विश्व शक्ति का ही विजृम्भण है। शिव प्रकाश उससे अतीत है। किन्तु परमशिवावस्था में शक्ति के साथ इसका पूर्णयोग रहता है—दोनों ही अब समप्रधान, समरस, समात्मक हैं। दोनों ही दोनों में रहकर भी एकरस

हैं। इसलिए परमशिव एक साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक हैं। क्षेमराज का अनुवर्तन करते हुए कविराज जी इसे त्रिक दर्शन की खास विशेषता मानते हैं। शिवात्मक प्रकाश मानों तरल है, परम शिव प्रकाश मानों घनीभूत है, इसीलिए परमानन्दमय जो घनीभूत भाव है उसी के कारण प्रकाश आनन्द रूप में भासता है। यही सामरस्य की अवस्था है। इसी बात को उन्होंने अन्यत्र दूसरे ढंग से कहा है। सत्ता माने ही चिति है और चिति माने ही सत्ता है। दोनों का आनन्द में समानाधिकरण्य है। सामरस्य की धारणा को स्पष्ट करने के लिए कविराज जी ने कई समीकरणों का उपयोग किया है। इनमें से पहला है सत्, चित्, आनन्द का समीकरण। पूर्ण सत्ता अस्तित्व की दृष्टि से सत् है, अभिव्यक्ति की दृष्टि से चित् है एवं रसास्वाद की दृष्टि से आनन्द है। दूसरा समीकरण है समाधि की व्युत्थान और निरोधावस्था के यौगपद्य का। शास्त्रों में इसे ही नित्योदित या निर्व्युत्थान कहा गया है। व्युत्थान अवस्था में भी समाधि का संस्कार बना रहता है। तीसरा है जीव की भक्तिरूपा शक्ति और शिव की चिद्रूपा शक्ति का। इस बात पर हम आगे थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पारमार्थिक सत्ता आत्यन्तिक साम्यावस्था स्वरूप है। यह मूलगत परमसाम्य ही अद्वैत स्थिति है जिसे उपनिषदों में परम साम्य कहा गया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अद्वैतवाद की कट्टरता प्रमाणित करने के लिए कविराज जी ने उनकी अज्ञान की धारणा पर विस्तार से विचार किया है। प्रश्न होसकता है कि जब प्रकाश ही जगत् का स्वभाव है, तब बन्धन का आविर्भाव कहां से होता है। इस प्रश्न को इस तरह भी पूछा जा सकता है कि जब परम सत् प्रकाश रूप है तो संसार का आविर्भाव कहां से होता है क्योंकि अद्वैत मत में चित्प्रकाश को छोड़कर दूसरी वस्तु है नहीं। इसका शैवों को अभिप्रेत उत्तर प्रसंगान्तर से ऊपर आ चुका है। पूर्ण सत् के स्वातन्त्र्य के दो अंश हैं—संकोच और प्रसार। इस संकोच के आपादक सामर्थ्य को तिरोधान शक्ति और संकोच की घटना/क्रिया को तिरोधान कृत्य कहते हैं। परमार्थसत्ता सबसे पहले अपने स्वरूप को आच्छादित करने वाली तिरोधान शक्ति को अभिव्यक्त करती है। दूसरे शब्दों में यह अभिन्न परमेश्वर भाव का अस्फुरण है। बोध या चिद्भाव में स्वातन्त्र्य का अप्रकाश एक प्रकार का अज्ञान है और स्वातन्त्र्य में बोध का अभाव दूसरे प्रकार का अज्ञान। दोनों प्रकार के ये अज्ञान अपूर्ण ज्ञान की ही दो स्थितियां हैं और दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया गया है—आणवमल। आणव का अर्थ है अणुभाव—पूर्ण का अपूर्णोत्तर। मल कहकर उसकी आवरक शक्ति का निर्देश किया गया है। अज्ञान की दोनों स्थितियों के लिए क्रमशः पारिभाषिक शब्द हैं पौरुष और बौद्ध अर्थात् जिनका संबंध क्रमशः पुरुष और बुद्धि से है। बुद्धिगत अज्ञान के अनिश्चय तथा विपरीत ज्ञान—ये दो स्वभाव हैं। विकल्पन या

स्वरूप-संकुचन पुरुषगत अज्ञान का स्वरूप है। इसीलिए संसार के मूलकारण रूप में इसका निर्देश किया जा सकता है। आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण और शिव स्वरूप होने पर भी इस मल के कारण स्वरूपगत संकोच से अपने को अपूर्ण समझता है, स्वयं अपरिच्छिन्न होकर भी अपने को सर्वथा परिच्छिन्न अनुभव करने लगता है। इस परिच्छिन्नता और आणवभाव के प्राप्त होने के बाद उसमें शुभाशुभ वासनाओं का उद्भव होता है, जिनके विपाक रूप में जन्म (देह सम्बन्ध), आयु (देहस्थितिकाल) और भोग (सुख-दुःखानुभव) अनिवार्य हो जाते हैं। यही कर्ममल है, कर्म से उत्पन्न कञ्चुक रूप आवरण—कला, विद्या, राग, काल, नियति और इनकी समष्टिभूता माया। पुर्यष्टक तथा स्थूलभूतमय विभिन्नजातीय कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देह—इन सब देहों के आश्रयभूत विचित्र भुवन और नाना प्रकार के भोग्यपदार्थों का अनुभव जिसके कारण होता है, उसे मायीयमल कहते हैं। बद्ध आत्मा में इन तीनों मलों का आवरण सर्वदा ही रहता है। इन तीनों मलों में आणव मूल मल है और कर्म तथा मायीय व्युत्पन्न या अवान्तर। इनमें भी क्रम इस प्रकार है पौरुष—कर्म—मायीय तथा बौद्ध अज्ञान। शिवभाव की पुनः प्राप्ति के लिए बुद्धि या अध्यवसायगत अज्ञान के दूरीकरण के लिए आणवोपायादि उपायचतुष्टय का विधान किया जाता है। पुनः पुनः अभ्यास के बल से, विकल्प-बुद्धि के संस्कार के द्वारा अविकल्प ज्ञान के आविर्भाव से बुद्धिगत अज्ञान पौरुष अज्ञान का भी नाश कर देता है। यहां इस बिन्दु पर दीक्षा द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति से बौद्ध ज्ञान (स्वातन्त्र्य-बोध) और पौरुष अज्ञान की निवृत्ति से पौरुष ज्ञान (बोध-स्वातन्त्र्य) का उदय होता है। यही वस्तुतः मुक्ति है। यहां अद्वैत की रक्षा के लिए कहना आवश्यक होगा कि दीक्षा भी परमेश्वर की अपनी क्रियाशक्ति है और सारी प्रक्रिया इस प्रकार अपने को अपने द्वारा मुक्त किए जाने की है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद की स्थापना में कविराज जी कृत, उसकी शांकर वेदान्त से तुलना बड़ा महत्त्व रखती है। इससे दोनों ही उत्कृष्ट दर्शनों का पारस्परिक वैशिष्ट्य उभर कर सामने आता है। संक्षेप में ये भेद इस प्रकार रखे जा सकते हैं—ब्रह्मवाद माया को सत् एवं असत् से विलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानता है। शैवाचार्यों का कहना है कि इससे द्वैत के स्पर्श को पूरी तरह से हटाया नहीं जा सकता। यह बात सही है कि माया परमार्थदृष्टि से तुच्छ है और व्यवहारभूमि की सत्यता ब्रह्म के अद्वैत तत्त्व का स्पर्श नहीं करती। प्रश्न है कि जब एक ही अद्वय ज्ञान तत्त्व है तब यह द्वैत की स्फुरणा क्यों होती है? शुद्ध ब्रह्म विवर्तात्मक अनादि प्रवर्तमान व्यवहार का अधिष्ठान मात्र है। सृष्ट्वादि धर्म उस पर आरोपित या अध्यस्त होते हैं परन्तु जीवभाव, जगद्भाव या ईश्वरभाव कैसे होता है यह समझ

में नहीं आता। ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है, माया है किन्तु उसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीतरूप है। मेघ और सूर्य के दृष्टान्त से उन्होंने समझाया है कि अपनी शक्ति से अपने स्वरूप को ढककर भी उसका अनावृतरूप च्युत नहीं होता। विश्व-वैचित्र्य उसके अपने स्वरूप का ही विमर्श है। वैचित्र्यभासन परम तत्त्व का स्वभाव है।

ब्रह्मवादी भी आत्मा के स्वभाव को मानते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा शुद्ध साक्षी अथवा अधिष्ठान-चैतन्यात्मक है जबकि ईश्वरवादी उसे स्वातन्त्र्यमूलक, स्वातन्त्र्यात्मक, कर्तृस्वरूप मानते हैं। यही दोनों में प्रधान भेद है। क्षेमराज ने 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रत्यभिज्ञाहृदय में कहा है 'स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षणश्चित्तो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते।' वेदान्त और त्रिक दोनों में परम तत्त्वों का एक सी शब्दावली में वर्णन किया जा सकता है सिवाय इसके कि शांकर ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है जब कि त्रिक सम्प्रदाय में विमर्श या कर्तृत्व ही आत्मा का स्वभाव है। इसीलिए अभिनवगुप्त के टीकाकार भास्करकण्ठ अद्वैत वेदान्त को निर्विमर्शब्रह्मवाद कहते हैं। तान्त्रिकों ने अपने आग्रह को छिपाया नहीं है क्योंकि शांतब्रह्मवाद कहकर वह दूसरा कटाक्ष करते हैं। आत्मा में स्वातन्त्र्य का वैसा उन्मेष न होने के कारण कविराज जी को लगता है कि मानों शांकर मत में द्वैताभास वस्तुतः वर्जित नहीं है और इस की पुष्टि में वह महेश्वरानन्द के वाक्य को सहमतिपूर्वक उद्धृत करते हैं।

यही कारण है कि शैवाचार्य सांख्य-योग के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म को आत्मा की अपरावस्था में मानते हैं। इनके मत में ब्रह्म की परापरावस्था भी नहीं है, परावस्था की तो बात ही क्या है। परमशिवावस्था ही आत्मा ही परावस्था है। शैव लोग कहते हैं कि वैसी अवस्था वेदान्तादि शास्त्रों में वर्णित नहीं हुई है। वस्तुतः वही अद्वयतत्त्व है।

प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय में अद्वैत शब्द का अर्थ है दो का नित्य सामरस्य। शंकर के मत में अद्वैत का अर्थ है द्वैत का अभाव। शंकर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। वे माया को सत्य नहीं मान सकते। इसी से उनका अद्वैतभाव व्यावृत्तिमूलक (exclusive), सन्त्यासमूलक (based on renunciation or elimination) है, अनुवृत्ति अथवा ग्रहणमूलक (all-embracing) नहीं। आगम मत में माया को ब्रह्ममयी और सत् मानने से ब्रह्म और माया का सामरस्य सिद्ध हो जाता है। शांकर वेदान्त में जिस अवस्था में माया मिथ्या है, उस अवस्था में ब्रह्म भी मिथ्या है क्योंकि उस अवस्था में जो ब्रह्मबोध है वह मायाकल्पित है। भगवान् शंकराचार्य के "तमः प्रकाश-वद्विरुद्धयोः" पद की यथार्थता

स्वीकार करके भी यह बात कही जा सकती है कि प्रकाश से ही घर्षण द्वारा अन्धकार का आविर्भाव होता है और अन्धकार ही घर्षण द्वारा प्रकाश में पर्यवसित होता है। दोनों ही नित्य संयुक्त हैं, स्वरूप में समरसभावापन्न हैं। इसी को शिव-शक्ति का सामरस्य या चित्-आनंद की प्राप्ति कहते हैं। यही ईश्वरद्वयवाद की विशेषता है।

कविराज जी चित्-आनंद के सामरस्य के समीकरण का और विस्तार करते हैं। उनके अनुसार इस अद्वयवाद में एक और विशेषता है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही, इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामंजस्य है। शंकर-प्रवर्तित अद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत में भक्ति द्वैतमूलक है, इसी कारण अद्वैतावस्था में ज्ञानाविर्भाव में इसकी सत्ता नहीं रहती। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साधनरूपा अज्ञानमूलक भक्ति है। किन्तु त्रिकदर्शन में मोक्ष को चिदानन्दलाभ या पूर्णाहन्ताचमत्कार के रूप में अभिहित किया गया है। चिदंश ज्ञानभाव है और आनन्दांश भक्ति। यह पूर्णाहन्ता या स्वात्मचमत्कार ज्ञान की सीमा है और वही प्रेम या भक्ति की भी। इसीलिए यह समन्वयभूमि है। यहां चिदंश शिवभाव और आनन्दांश शक्तिभाव परस्पर मिले हुए हैं, इसी कारण यह ज्ञान-भक्ति की सामंजस्यावस्था है और यही शिवशक्ति का सामरस्य भी।

त्रिपुरादर्शन और प्रत्यभिज्ञामत में योगी और मायावी के दृष्टान्तों का आश्रय लेकर जगत् की सृष्टि इच्छाशक्तिमूलक अर्थात् उपादाननिरपेक्ष प्रतिपादित है यह कविराज जी ने रेखांकित किया है। उत्पल की कारिका को उद्धृत करते हुए वह कहते हैं कि सृष्टि का अर्थ है अंतःस्थित का बहिःप्रकाश। सभी पदार्थ चिदात्मा के अंदर स्थित हैं, केवल इच्छावश कभी-कभी कुछ बाहर प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार की सृष्टि में उपादान की अपेक्षा नहीं है। प्रत्यभिज्ञा की यह उपादाननिरपेक्षता शांकर वेदान्त में अभिन्न-निमित्तोपादानवाद के नाम से प्रचलित है। अवश्य ही अद्वैतवाद मानने पर निमित्त और उपादान के भेद को अस्वीकार करना पड़ता है। परन्तु चूंकि शांकर वेदान्त में ब्रह्म के मुख्य कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया गया है, अतः सृष्टि स्वेच्छानिमित्तिक न रहकर अविद्यानिमित्तिक हो जाती है।

शिवाद्वयवाद के संदर्भ में भक्ति की चर्चा चली है तो कहना होगा कि दो बातों के लिए हम उनके ऋणी हैं। शिवाद्वयवाद के अनुसार अद्वैत भक्ति के स्वरूप को उन्होंने स्थिर किया है और भक्ति के रसत्व को तर्क-पुष्टि के साथ प्रस्तुत किया है। शिवाद्वयवाद में ज्ञान और भक्ति वस्तुतः एक दूसरे के पर्याय हैं। तंत्रालोक में शक्तिपात का मुख्य लक्षण है भगवद्भक्ति का उन्मेष और यह शक्तिपात अनुग्रह शक्ति, परमेश्वर की स्वरूपप्रसारात्मक सामर्थ्य की

ही अभिव्यक्ति है। अभिनवगुप्त ने उत्पल की पहली प्रत्यभिज्ञाकारिका की व्याख्या करते हुए इसे ही मोक्ष रूप से प्रस्तुत किया है। परम तत्त्व अनवच्छिन्न प्रकाशानन्द रूप है, वही स्वातन्त्र्य है, उसका तादात्म्यापादन ही भक्ति है और उस तादात्म्य के आपादान की जिसमें पात्रता है वही भक्त है। प्रकाश का आत्मास्वादरूप विमर्श या विमर्श में प्रकाश की शांत-लयात्मयता शिव शक्ति के सामरस्य के प्रतीक है और इन्हें अद्वैत भक्ति कहना कदापि असंगत नहीं है। प्रश्न है कि ज्ञान और भक्ति का निजी वैशिष्ट्य ज्ञानात्मकता और रागात्मकता को लेकर है, एक ज्ञान रूप है दूसरा भावरूप। इसे ही चिदंश और आनंदंश के क्रमिक समीकरण द्वारा बार-बार व्यक्त किया गया है। रागात्मकता के लिए पारस्पर्य, भक्तभगवद्भाव आवश्यक है, अद्वयावस्था में वह भाव किस प्रकार सम्भव है। इसका एक उत्तर तो यह दिया गया है कि भेद आहार्य है, वास्तविक नहीं। अज्ञानमूलक द्वैत या साधनभक्ति के समान यह भक्ति स्वार्थानुसन्धानात्मिका नहीं है अपितु यह तो शुद्ध स्वात्मानुसंधानमयी है जिसमें भक्त भगवान् का, या विश्व अहं का ही विभव मात्र है। दूसरा समाधान भी इसी से प्रतिफलित होता है कि परम स्थिति या महाभाव का रूप है पूर्णाहन्ता का उन्मेष। पूर्णाहन्ता का अर्थ है स्वात्मप्रत्यवमर्श अर्थात् आत्मास्वादन। आत्मास्वादन रागात्मक भी है और ज्ञानात्मक भी, क्योंकि चित् और आनंद का प्रत्ययार्थ भिन्न होने पर भी संकेतार्थ एक ही है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि सत् की अभिव्यक्ति है चित् और अनुभूति है आनंद। कविराज जी कहते हैं कि “अद्वैत शैवगण ज्ञानी होने पर भी परम भक्त हैं, शुष्क ज्ञानी नहीं।” उत्पलाचार्य का वचन कि समावेशमयी भक्ति के प्रभाव से चिदानन्दधन शिवात्मतत्त्व सदा स्फुटित होता है और अभिनवगुप्त का भक्तता और भगवत्ता के पारस्परिक तादात्म्यीकरण द्वारा अपने और भगवान् दोनों को प्रणाम करना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है। अपने स्वसंवेदन नामक ग्रन्थ में भी कविराज जी ने अद्वैतभक्ति या पराभक्ति उसे कहा है जब ‘मैं’ द्रष्टा होकर मैं-रूपी भगवान् का दर्शन करता है। अनुग्रह का अर्थ है एक ही पूर्ण की अवस्थिति। पूर्णता का अर्थ है चरम साम्य। साम्य का अर्थ है भक्त और भगवान् का साम्य। सामरस्य के प्रत्यय की पूर्वमान्यता ही है दो का परस्पर पूर्ण विगलन-एकरसापादन। इसीलिए भक्ति के महाभाव के उदय का अर्थ है सर्वत्र परमात्मदर्शन-सर्वत्र व्याप्त भगवत्ता की निरन्तर अनुभूति।

कविराज जी ने इसे प्रकारान्तर से भी समझाया है। भक्ति जीव की शक्ति है और चित् शिव की। शिव और जीव के सामरस्यभाव के उदय का अर्थ है जीव की भक्ति रूपा शक्ति शिव की चित् शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है। जीव तब जीव रहकर भी शिव के समान होता है। यही महायोग या सामरस्य है। निराकांक्ष की इच्छा ही उसके स्वातन्त्र्य

के रूप में प्रकट होती है। जीव की इच्छा का सार है ईश्वर में समर्पण। ईश्वर की इच्छा का सार है जीवन में आत्मार्पण। यही क्रमशः माधुर्य और ऐश्वर्य है। दोनों का एकत्र सन्निवेश दोनों से अतीत अवस्था का बोध कराता है। यही पूर्णतापादन की भक्तिमयी प्रक्रिया है। उनकी अपनी शब्दावली में “हमारी इच्छा, उनकी इच्छा से अलग रहने में पूर्ण नहीं होती। उनकी इच्छा में हमारी इच्छा का लय-यही भगवत्स्रोत में आत्मसमर्पण है, उनकी लीला में प्रवेश है। इच्छा की पूर्णता ही आनन्द है इसलिए इस जगत्-लीला में उनके आनन्द का स्फुरण होता है। यह आनन्दस्रोत सर्वत्र प्रवाहित है”। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता, मुक्ति भी नहीं रहती, रहती है एकमात्र सामरस्यरूपा भक्ति-स्वयंप्रकाश अद्वय रसतत्त्व। यह एक ही सत्ता का प्रकाश है, इसलिए यह ज्ञान है। पर इसमें पृथक्भाव का आस्वादन रहता है, इसलिए यह भक्ति रस है। यह अद्वैत भक्ति की अवस्था है। इसकी स्वाभाविक उपलब्धि है महाप्रसाद का उदय-अर्थात् समग्र शिव का आत्मरूप से प्रतिभासन।

त्रिकदर्शन में दास्यात्मक भक्ति ही स्वीकार की गयी है। सच पूछा जाए तो भक्ति का मूल तत्त्व ही दास्यभावाश्रित है। शान्तभक्ति भक्ति की एक स्फुरण अवस्था मात्र है। रस-विकास में शान्त से दास्य, दास्य से सख्य, सख्य से माधुर्य इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर रस-पुष्टि होती है। त्रिकदर्शन दास्यात्मक भक्ति को मानकर भक्ति के मूल तत्त्व को ही मान लेता है। पर केवल मूल को ही मानता हो, ऐसी बात नहीं, यह भक्ति के चरम फल माधुर्य या प्रेम को भी आभासरूप में स्वीकार करता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यह भक्ति अज्ञानमूलक द्वैतभाव से उत्पन्न नहीं है। यह परिस्फुटित अद्वैत की अवस्था है जो एक अलौकिक द्वैत से अनुप्राणित है। इसीलिए यहां एक ही साथ ज्ञान और भक्ति का, चित् और आनन्द का समावेश दिखाई पड़ता है। इसी का नाम शिव-शक्ति का सामरस्य है। यह रसतत्त्व ही ऐक्य और वैचित्र्य का पूर्ण सामंजस्य है। यह रस ब्रह्मानन्द से विलक्षण तथा विशिष्ट है। ब्रह्मानन्द में आस्वादन नहीं, चर्वण नहीं, अहंभाव नहीं, त्रिपुटी नहीं, परन्तु रस में सभी कुछ है, पर यह अलौकिक है। पूर्णाहन्ता का चमत्कार ही रसबोध है—इस अभेद में भी अलौकिक भेद है, नहीं तो आस्वादन नहीं हो सकता।

क्रमशः



ISHWAR ASHRAM TRUST

(Founded by Sri Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj)
Gupt Ganga, Ishber, P.O. Brein Nishat, Srinagar - Kashmir

CALENDAR OF FESTIVALS 1999-2000

1999

April 13	Tuesday	Janamdivas Jayanti	Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj
April 21	Wednesday	Ling Pratishthan Jayanti	Amriteshwar Temple Mohinder Nagar, Jammu.
April 26	Monday	Ling Pratishthan Jayanti	Amriteshwar Temple Ishwar Ashram Nishat Srinagar.
May 7	Friday	Foundation Stone Laying Ceremony at 8.30 a.m.	Ishwar Ashram Trust Kashmir (Branch Office) Pkt-D, Plot No. R-5, Sarita Vihar, New Delhi-44
May 9	Sunday	Varsh Venue Pkt-D-R-5 Sarita Vihar, New Delhi	Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj
July 28	Wednesday	Guru Purnima	
August 26	Thursday	Shravan Purnima	
September 2	Thursday	Janam Ashtami	
September 26	Sunday	Pitra Paksh Jag (Yajna)	Swami Mehtab Kak Ji Maharaj
September 27	Monday	Pitra Paksh Jag (Yajna)	Sushri Sharika Devi Ji
September 28	Tuesday	Vaarshik Jag (Yajna)	Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj
October 7	Thursday	Pitra Paksh Jag (Yajna)	Swami Ram Ji Maharaj
November 12	Friday	Janamdivas Jayanti	Swami Mehtab Kak Ji
December 9	Thursday	Janamdivas Jayanti	Sushri Sharika Devi Ji

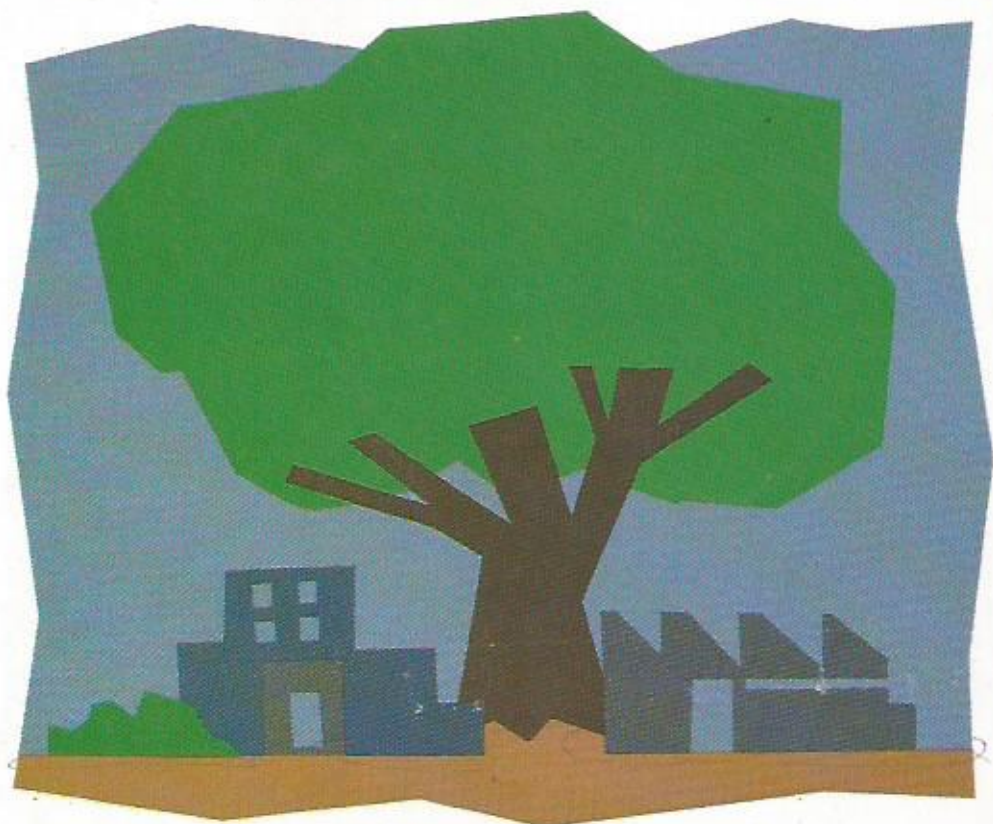
2000

January 3	Monday	Janamdivas Jayanti	Swami Ram Ji Maharaj
February 3	Thursday	Vaarshik Jag (Yajna)	Swami Ram Ji Maharaj
February 21	Monday	Vaarshik Jag (Yajna)	Sushri Sharika Devi Ji
March 3	Friday	Maha Shivratri	
March 7	Tuesday	Vaarshik Jag (Yajna)	Swami Māhtab Kak Ji

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar, Canal Road, Jammu Tawi.

(I.K. Raina)
Secretary

NEW INDIA ASSURANCE



AT HOME OR IN BUSINESS... WE KEEP YOU SAFE, SECURE AND HAPPY.

New India Assurance offers a wide range of insurance covers. That provide security in nearly every field of human activity.

From theft or burglary at home. To cargo and hull insurance in shipping. Even poultry and livestock.

At New India, providing protection has been a way of life. Backed by service that has enabled it to emerge as India's leading general insurance company.

Our insurance policies: • Householder's
• Personal Accident • Mediclaim • Overseas
Mediclaim • Cancer • Machinery • Boiler &

Pressure Plant • Electronic Equipment • Cold
Storage • Marine (Cargo) • Hull
• Shopkeeper's • Livestock & Poultry • Other
Property • Horticulture • Package
(agriculture)

TOWARDS
RS. 1000
CRORE
PREMIUM

